Publication of the Center of Advanced Study in Sanskrit, University of Pune

Class F Number 7

आगम के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र

लेखक

रामपूर्ति त्रिपाठी

संस्कृत प्रगत अध्ययन केंद्र,

पुणे विद्यापीठ, पुणे,

२००१

Publication of the Center of Advanced Study in Sanskrit, University of Pune

Class F

Number 7

आगम के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र

लेखक

रामूर्ति त्रिपाठी

संस्कृत प्रगत अध्ययन केंद्र,

पुणे विद्यापीठ, पुणे,

२००१

प्रकाशक

रजिस्ट्रार,
पुणे विद्यापीठ,
पुणे-४११ ००७

प्रथमावृत्ती २००१

© प्रकाशक के स्वाधीन

मुल्य रू. १५०/-

मुद्रण व्यवस्था

प्रवीण प्रिटिंग सर्व्हिसेस
आसावरी ९, औंध,
पुणे-४११ ००७.

FOREWORD

It gives me great pleasure in placing in the hands of scholars the CASS publication, Class F, No. 7. This is a monograph, which includes a series of lectures delivered by Professor Rammurthy Tripathi a renowned scholar of Sanskrit and Hindi. Professor Tripathi was invited by our Centre to deliver a Course of Lectures on Kashmir Shaivism in the context of Sanskrit literary criticism. It is well-known to scholars of Indian literature, particularly of Sanskrit literature that a galaxy of thinkers hailed from Kashmir who provided a deep frame work of literary criticism to the Sanksrit tradition. Without understanding, therefore, Indian Philosophy particularly, the philosophy of Agama Tantra, it is impossible to understand the frame-work of literary criticism of the Sanskrit tradition. I, therefore, requested Professor Tripathi who is an authority on this topic to provide this background in the form of a series of lectures so that the reading and understanding of the Alankara sastra become enjoyable. On my request Professor Tripathi delivered these lectures and presented these lectures to me in publishable form. The present volume is the outcome of that. Through these publications the Centre is encouraging and expanding another thrust area viz. Literary Criticism and it hopes that in course of time many more such activities are arranged to bring all languages around one table for a meaningful dialogue.

I hope the volume will prove to be useful and I shall appreciate if constructive suggestions are made for its future improvements.

I take this opportunity to congratualte Professor Tripathi for this excellent job and express my thanfulness to him for

accepting my invitation and making me available these lectures in a publishable form. I also thank members of the academic staff of our Centre for helping me in seeing the proofs through the press. I thank Mr. Kishor Khurjekar of Praveen Printing Services for his excellent work.

All the publications of the CASS are made from the funds made available by the UGC. I am thanful to the UGC for its continued support.

V. N. Jha
Director, CASS

आगम के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र

विषयसूची

पातनिकी .. १-२

अध्याय १ : आगम-विमर्श .. ३-२९

१.१ आगम - एक परिचय .. ४

१.२ शैवागम .. १४

१.३ वैष्णवागम .. १६

१.३.१ वैखानस

१.३.२ पाञ्चरात्र

१.४ आगम-निगम-समन्वय .. २१

१.५ आगमों में दिक्काल विमर्श – अभिनव गुप्त सम्मत .. २७

परिशिष्ट १ .. ३६

परिशिष्ट २ .. ३७

अध्याय २ : काव्य-विमर्श .. ३८-९३

२.१ काव्यशास्त्र की विभिन्न संज्ञाएँ .. ३८

२.२ उद्भव और विकास .. ३८

२.३ काव्यशास्त्र की प्रासङ्गिकता .. ३९

२.४ काव्य स्वरूप, प्रयोजन, हेतु तथा प्रभेद .. ४०

२.५ 'सहृदय' शब्द को अभिनवगुप्त द्वारा दी गई नई अर्थ दीप्ति .. ४३

२.६ काव्य की रचना - प्रक्रिया - अभिनवगुप्त की दृष्टि में .. ५२

२.७ कलाओं की मूल्य-दृष्टि .. ६७

२.८ अभिनवगुप्त : सौन्दर्यानुभूति और उसकी समरूपता .. ७५

अध्याय ३ : रसविमर्श .. ९४-१६५

३.१ भारतीय काव्यात्मवाद की भूमिका .. ९४

३.२ साधारणीकरण : भारतीय परिवेश में .. १००

३.३ रसनिष्पत्ति
(भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त सम्मत रस-सूत्र की व्याख्या) .. १४६

३.४ स्पन्दवाद के आलोक मे वक्रोक्ति .. १६०

परिशिष्ट १ .. १६६

अध्याय ४ : उपसंहार .. १७१-१७३

पातनिकी

प्रत्येक घटना अपने समय से घटित होती है। डॉ. वसिष्ठ नारायण झा का संकल्प तो बहुत पहले से अपने प्रगत केन्द्र में मुझे अतिथि आचार्य के रूप मे आमंत्रित करने का था, पर घटित अब हुआ है। कुछ समय पूर्व 'तात्पर्य' विषय को केन्द्र में रखकर एक संगोष्ठी उनके यहाँ सम्पन्न हुई। उसमे मुझे 'तात्पर्य : अलंकार शास्त्र और आगम' - विषय पर आमंत्रित किया गया। संगोष्ठी नितान्त सार्थक और सफल रही। सभी का स्नेह मिला। उन्होंने मुझे "वि. वि. अ. आ. (U. G. C.) फेलोशिप (अतिथिवक्ता) के तहत आमंत्रित किया। अब उनके संकल्प के घटित होने का समय आ गया था। विषय रखा गया : **"आगम के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र की अभिनव व्याख्या"**

२३ अगस्त से ३१ अगस्त १९९९ का कालनिर्धारण हुआ। इस कालसीमा में सब तो संभव नही था - पर निम्नलिखित विषयों पर 'प्रगतकेन्द्र' के स्वरूप के अनुरूप व्याख्यान के साथ साथ गहन गंभीर चर्चा-परिचर्चा भी होती रही। तुलसी की पंक्ति याद आयी -"वक्ताश्रोता ज्ञाननिधि कथा राम की गूढ़" यहाँ राम की जगह 'तंत्र' ने ले ली। ज्ञाननिधि श्रोताओं ने वक्ता को भी आत्मरूप बना लिया। अतिथि आचार्य तो मैं सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी (१९८९) तथा डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर में भी वर्षभर और माह भर के लिए रहा पर रौनक सबकी अपनी अलग-अलग रही। पुणे विद्यापीठ की अपनी एक गौरवशाली परम्परा है - औपचारिकता विहीन सारस्वत उपासना की। डॉ. झा का पारस संस्पर्श पाकर यह परम्परा और दीप्तिमती हो उठी है। इस आयोजन के श्रोता कैसे और किस तरह के ज्ञाननिधि रहे हैं, इसका अहसास कभी-कभार के प्रश्नोत्तरों से तो होता ही था- 'संस्कृत दिवस' (26.8.99) पर और गहराई से हुआ। 'संस्कृत दिवस' में मैने अनेकत्र भाग लिया है-पर यह आयोजन अपने ढंग का अकादमिक था - नितान्त सादगी पर प्रस्तुतियाँ उतनी ही तत्त्वावगाहिनी। पाँच विद्वान् और विदुषी प्रतिभागियोंने विभिन्न विषयों पर संस्कृत में ही पत्र पढ़े, छठाँ सुमेरु - स्थानीय रूप था-स्वयम्

विभागाध्यक्ष डॉ. झा का-जिसमें उन्होंने व्यासज्यवृत्ति धर्म के संदर्भ में पर्याप्ति संबंध की उद्‌भावना की समीचीनता स्थापित की। ऐसे सारस्वत उपासकों के बीच अपने को पाकर मुझे भी अपनी कृतार्थता अनुभूत हुई। संस्कृतवर्ष का यह संस्कृत दिवस विभागीय स्नेहवश इन पंक्तियों के लेखक के साभापत्य में सम्पन्न हुआ-जो मेरे लिए गौरव का विषय था।

व्याख्यान के विषय निम्नलिखित थे–

(क) कश्मीरी शैवागम की सांगोपांग प्रस्तुति

(ख) वैखानस और पाञ्चरात्र-वैष्णावगम

(ग) 'सहृदय' शब्द को अभिनव द्वारा दी गयी नई अर्थदीप्ति

(घ) अभिनवगुप्त सम्मत काव्य की रचना प्रक्रिया

(इ) साधारणीकरण- भट्टनायक और अभिनवगुप्त तथा

(च) रसनिष्पत्ति- भट्टनायक और अभिनवगुप्त

डॉ. झा ने आगाह कर रखा था की ये भाषण लिखित हों-ताकि विभाग से इनका एकान्वित संकलन प्रकाशित हो। इसलिए ये निबंध सुनिश्चित और व्यवस्थित रूप में पहले से ही तैयार कर लिए गए थे। सम्प्रति, सहृदय पाठकों के हाथ में परीक्षणार्थ यह सब जा रहा है- इस प्रत्याशा के साथ कि 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः' वे समुचित सुझाव देते रहेंगे। अन्ततः 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगवि - ज्ञानम्"

- राममूर्ति त्रिपाठी

प्रथम अध्याय

आगम-विमर्श

शैव दर्शन का वाङ्मय त्रिविध विभाजित है - आगमशास्त्र, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र तथा स्पन्दशास्त्र। प्रथम मे दैवीज्ञान निरूपित है। 'स्पन्द' मे शैवदर्शन के मुख्य सिद्धांत स्थापित हैं और प्रत्यभिज्ञा में सिद्धांतों की व्याख्या है। शैव धर्म संसार का संभवतः सर्वाधिक प्राचीन धर्म है। सर जान मार्शल तक यह मानते हैं कि यह ताम्रपाषाण युग अथवा उसके भी पहले का है। इसके उद्भव की मूल भूमि मध्य देश है- परंतु संप्रति प्रदेश-भेद से इसकी तीन विधाएँ लक्षित होती हैं-कर्नाटक का वीरशैव, तमिलनाडु का शैवसिद्धांत और काश्मीर का अद्वैत शैव। भारत के लिए दर्शन केवल चिन्तसरणि नही, अपितु जीवनसरणि है- इसीलिए यहाँ Theology और Philosophy पृथक् पृथक् शाखाएँ नहीं है। चिन्तन आचरण धर्म का अंग है। यहाँ ऋषिदृष्ट 'सत्य' (अविभक्ततत्त्व) गंतव्य है और तदर्थ निगमागम प्रतिपादित मार्ग आचरण है- उसमें साधक की आस्था या निष्ठा के दृढ़ीकरण के लिए 'विचार' है। विचार भी - 'दर्शन' है अपरोक्षानुभूति के लिए। 'विचार' या 'चिन्तन' को उपचारतः 'दर्शन' कहा जाता है। जिस रूप में ऋषि 'सत्य' या 'अविभक्त' का दर्शन करता था-उसे मनुष्य को तार्किक बुद्धि से अवगत भी करा देना चाहता था। 'दर्शन' या 'चिन्तन' इसी क्रम मे आया। शैव या वैष्णव दर्शन इसी प्रकार का दर्शन है। शताब्दियों तक यह एक गुह्यसिद्धांत के रूप मे चलता रहा। कालांतरमें केवल अनुष्ठान या उपासना पद्धति रह गयी। इस शैवागम को लिखित रूप में प्रस्तुत करनेवाला संभवतः प्रथम व्यक्ति वसुगुप्त था (ई. की आठवी शती)। इसका विवेचन निम्नलिखित सात शीर्षकों मे किया जा रहा है – १) परमार्थ या चरमतत्त्व २) जगत् ३) स्वातंत्र्यवाद और आभासवाद ४) षडध्वा ५) शंकर अद्वैतवाद के साथ तुलना ६) जीव तथा ७) मोक्ष।

१.१ आगम : एक परिचय

आगम और निगम का अन्तर

भारतीय संस्कृति के दो स्रोत हैं — आगम और निगम। निगम, आम्नाय, वेद, और श्रुति पर्याय हैं। यों तो शास्त्र मात्र आप्त वचन होने से आगम है — परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका प्रयोग सीमित और पारिभाषिक वाङ्मय विशेष के अर्थ में किया जा रहा है।

निगम और आगम

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो "निगम" और "आगम" दोनों ही "ज्ञान" स्वरूप हैं पर बहिर्मुखी दृष्टि से माना जाता है कि "निगम" अपौरुषेय और निर्द्धारितानुपूर्वीक श्रेयस्कर शब्द राशि विशेष है जबकि आगम पौरुषेय, "न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते" - वाक्यपदीय - अज्ञातकर्तृक हैं। वह कभी-कभी केवल गुरु-शिष्य परम्परा में ही अपनी गोपनीयता और गुह्यता के कारण 'अनिबद्ध' रूप से प्रायोगिक होने के कारण प्रवहमान रहता है और कभी-कभी आवश्यकता, प्रचार और प्रसार की भावना से उसे लिपिबद्ध या "निबद्ध" भी कर दिया जाता है। निगम सिद्धान्त है और आगम उसका अविच्छेद्य और प्रायोगिक भाग। इस प्रकार आगम निबद्ध और अनिबद्ध — उभयात्मक है। सिद्धान्त होने से "निगम" सबका एक है — पर प्रायोगिक होने से आगम सबके अपने-अपने अलग-अलग हैं। निगम अस्मर्यमाण कर्तृक है और आगम स्मर्यमाण कर्तृक। निगम याग-मार्ग है और आगम राग-मार्ग। निगम त्रैवर्णिक है और आगम सार्ववर्णिक। आगम उपक्रम है और निगम उपसंहार – इसीलिए तत्त्वतः दोनों का अविरोध होने पर भर भी एक का स्वरूप अन्य के अनुरूप निर्वारित होता है। उपक्रम और उपसंहार से एक ही तत्त्व की चर्चा होती है पर उपक्रम प्रतिपाद्यभूत या वाच्यभूत उपक्रमण में नियमतः क्रियाशीलता की ओर इंगित करता है – इसीलिए आगम सम्मत प्रत्यभिज्ञा दर्शन प्रकाशाद्वयवादी होता हुआ भी स्वयं विमर्शात्मक क्रिया से अपने को शून्य नहीं मानता जबकि निगम का चूडान्त दर्शन "अद्वैत वेदान्त" प्रकाशतत्त्व को विमर्शमय या स्पन्दात्मक शक्ति समवेत अपने को प्रस्तुत नहीं करता। उसमें विमर्श या क्रिया-शक्ति हो तो भी वह उन्मीलित नहीं है। ज्ञान और क्रिया के बीच क्रिया का महत्त्व देने वाले उपक्रम का भी पराक्रम अधिक मानते है और जो लोग क्रिया की अपेक्षा प्रकाश को ही अधिक महत्त्व देते है

वे निगम मूलक दर्शनों का वैशिष्ट्य क्रिया या शक्ति शून्यता में प्रतिपादित करते हैं। जहाँ आगम भोग और मोक्ष — दोनो को चरम प्रयोजन मानता है वहाँ निगम मूलक दर्शन केवल "मोक्ष" को। इसीलिए आगमिक धारा का प्रत्यभिज्ञा दर्शन जहाँ जगत को सत्य और आनन्दमय बताता है वहाँ निगम का चूडान्त दर्शन — केवलाद्वैतवाद उसे असत्य और दुःखमय निरूपित करता है। न्याय दर्शन के अनुसार "आगमन" प्रतिज्ञा है और निगमन "सर्वेषामेकार्थसमतासामर्थ्यप्रदर्शन" है — सबका, उपक्रान्त का एकत्र समाहार है — सभी आरब्ध क्रियाकलाप का निर्वहण हैं। दूसरे विद्वान् आगम मे उपासना या राग का और निगम में ज्ञान उपासना और कर्मका प्रतिपादन देखकर दोनों का अन्तर बताते हुए कहते हैं – निगम — "निःशेषेण गमो बोधः यस्मात् स निगमः" और "आगम" — "आ ईषद् अंशतः उपासनाख्यस्य गमो बोधः यस्मात् स आगमः।" अर्थात् "निगम" में ज्ञान उपासना और कर्म सभी का निरूपण है परन्तु आगम में उपासना या राग मात्र के उपवृंहण पर कहीं अधिक बल है। इसीलिए आगमों मे कहा गया है —

अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् राग एव प्रशस्यते

इस (शांकरभाष्य सम्मत "माया" से रहित) शैवमार्ग मे "राग" ही प्रशस्त माना गया है। कहा गया है —

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः ॥

अर्थात् आस्तिक बुद्धि का ह्रास देखकर लोकहित चिन्तक मनीषियों ने घोषणा की कि कृत युग मे श्रुति प्रतिपादित आचार ठीक था पर त्रेता में स्मृति प्रतिपादित आचार और द्वापर में पुराण प्रोक्त आचार सम्भव है। कलि युग मे अस्तिकता का ह्रास हुआ है – इसीलिए हमारी श्रद्धा, आस्था तथा तदनुरूप बुद्धि का भी ह्रास हुआ है — पर इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य अपने जीवन में चरम लक्ष्य की प्राप्ति से उदासीन या निराश हो जाय। इसलिए हमारे हित-चिन्तकों ने आपामर प्ररूढ "भाव" या "राग" की शक्ति पहचानी और उसका प्रतिपादन किया – प्रक्रिया बताई और स्वयं पथ-प्रदर्शन किया। इस बेचैनी का प्रमाण भी टीका-टिप्पणियों में मिलता है। कहा गया है कि महर्षिशाण्डिल्य को जब वेदों में परम पुरुषार्थ की उपलब्धि नहीं हुई तब उन्होंने "आगम" का सहारा लिया और यह मान्यता प्रतिष्ठित हो गई कि चतुर्वेद के ज्ञाता की अपेक्षा आगम के एक अक्षर का ज्ञाता कहीं अधिक विशिष्ट है। इसी बेचैनी को

देखकर मनीषियों ने पुनः गुरुशिष्य के बीच प्रवाहित ज्ञानधारा को वाग्बद्ध या लिपिबद्ध करना आरंभ कर दिया। इसीलिए आगम को "अनिबद्ध" तथा "निबद्ध"— उभयात्मक बताकर "निगम" से उसका वैशिष्ट्य निरूपित किया गया। कश्मीर का अद्वैत शैव दर्शन प्रमाण है। शताब्दियों तक वह एक गुह्य सिद्धान्त के रूप मे साधक को बताया जाता था जिसमे उसके अनुसार अपने जीवन को ढालना पड़ता था। भारतवर्ष मे दर्शन या चिन्तन केवल एक बौद्धिक विलास मात्र नहीं रहा — उसकी जीवन से गहरी स्पृक्ति रही है और है। सिद्धान्त का चिन्तन के अनुरूप ढले हुए जीवन की आध्यात्मिक प्रयोगशाला मे परीक्षण करना पड़ता था। कालान्तर में केवल उपासना और अनुष्ठान पद्धति रह गई — दार्शनिक पृष्ठभूमि भूल गई। कहीं कुछ ऐसे लोग रह गए होंगे जो मौखिक परम्परा द्वारा उसके दार्शनिक सिद्धान्त को जानते थे – एसे लोगों मे केवल वसुगुप्त का पता चलता है। वे आठवीं शताब्दी के अन्त या नवीं के आरम्भ मे पैदा हुए थे। तब से लगातार चार सदियों तक ये ग्रन्थ लिखे गए।

तात्विक दृष्टि से "आगम" और "निगम" — दोनो को "ज्ञानस्वरूप" माना गया है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वालों का पक्ष भी उपेक्षणीय नहीं है। इस पक्ष का उपस्थापन हो–उससे पहले इस पूर्वोपक्षिप्त "बिन्दु" की चर्चा हो जानी चाहिए कि यागमार्गी "निगम" की अपेक्षा "रागमार्गी" "आगम" का उपोद्वलन परवर्ती काल मे ही प्रभावी रूप से क्यों उभरा? "कृते श्रुत्युक्त आचारः .... कलावागम-सम्मतः" भी परम्परा का ही स्वर है – क्या इसमें समय की नाडी का स्पन्दन नहीं सुनाई पड रहा है? और पड़ रहा है तो कारण अवश्य होना चाहिए। रागमार्ग की आपेक्षिक महत्ता उद्घोषित करनेवाले "आगम" के प्रामाण्य पर वैष्णवाचार्यों को क्यों एक खास समय मे लिखना पड़ा? "राग" के इस प्रवाह का उत्स वेद की "काण्व" या "एकायन" शाखा से जोड़ा जाने लगा – इस तरह उसकी भी प्राचीनता और प्रामाणिकता पर ह्रासकाल में ही क्यों प्रकाश डालने की चिन्ता हुई? शाण्डिल्य और नारद – जैसे महर्षियों को उसका आचार्य निरूपित किया गया। परम्परा में स्थान-स्थान पर तरह-तरह के वाक्य इनके नाम से जुडे हुए है। "परमसंहिता" में कहा गया है—

अधीताः भगवन् वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
श्रुतानि च मयाङ्गानि वाक्ये वाक्ययुतानि च॥
न चैतेषु समस्तेषु संशयेन विना क्वचित्।
श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति॥

अर्थात् वेदों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने के बाद भी संशय रहित श्रेयोमार्ग कहीं नही दिखाई पड़ा। अतः भगवन्, सिद्धिप्रद मार्ग का उपदेश करें। शांकरभाष्य (ब्रह्मसूत्र) की "रत्नप्रभा" टीका में भी मिलता है "चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा इदं शास्त्रमधिगतवान् शाण्डिल्यः — अर्थात् चारों वेदों मे परम श्रेयोमार्ग को न पाकर शाण्डिल्य महर्षि आगम की ओर मुड़े और उन्हें वहां "भक्ति" नामक पंचम पुरुषार्थ और तदनुरूप मार्ग मिला। ये शाण्डिल्य सात्वतों के पुरोहित थे और व्रजमण्डल में तपोरत थे — ऐसा कहा जाता है। संक्षेप मे कहना यह है कि "निगम" से "आगम" का एक अन्तर या प्रत्यमिज्ञापक वैशिष्ट्य यह है कि "आगम" में "भक्ति" अंगी-रूप परमश्रेय कही गयी है "निगम" में उपासना है भी तो "अंग" रूप में — ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के अंग रूप में। इस बिन्दु पर कोई वैमत्य नहीं है। श्रुति सर्वस्व "गीता" में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा — दो की ही बात कही गई है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानमार्गेण सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

ऐतिहासिक दृष्टि से आगम परम्परा की पुरातनता पर विचार करते हुए डॉ. शशिभूषण दास गुप्त, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज तथा शरदचन्द्र चट्टोपाध्याय — आदि आगमतंत्र के नव्य व्याख्याकारों ने न केवल भारतीय भूमि पर अपितु अन्तर्राष्ट्रीय भूमि पर भी इस धारा का गुह्य मण्डलियों में "अविगीत प्रसिद्धि स्वीकार" की है और ऐसे संकेत संहिताओं तथा उपनिषदों से ढूँढ निकाले हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि निगम-आगम-सम्मत रहस्यमयी साधनाएं साथ-साथ प्रवाहित हो रही थीं। फिर जो सम्प्रदाय या साधक इस अन्तःप्रवाहित धारा से जुड़ता गया वह आगमिक अन्तस्तत्व को अपने अनुरूप ग्रहण करता गया। बौद्ध और जैन प्रस्थान पर भी इस आगमिक शक्तिवाद का परवर्ती प्रभाव ही प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

(ख) आगम और तंत्र का स्वरूप

(क) "आगम तथा तंत्र" इस प्रासंगिक क्रम में प्रायः पर्याय रूप मे प्रयुक्त होते रहे हैं - यद्यपि कभी-कभी थोडा-बहुत अन्तर दिखाने का भी प्रयास किया गया है।

कतिपय मनीषियों ने —

आगतं शिववक्त्रान्तु गतं च गिरिजामुखम्।
मतश्च वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते --॥

अर्थात् जो शिव-मुख से "आया", गिरिजा-मुख में "गया" और श्री वासुदेव द्वारा "मननगोचर" हुआ – वह आद्य अक्षरों (आ ग म) को दृष्टिगत कर "आगम" कहा गया। यह तो "आगम" शब्द की एक प्रकार से रूढ़ि हुई। मनीषियों ने इसे व्युत्पन्न भी माना है और अवयव शक्ति से निर्गत अर्थ को प्रचलित रूढ़ अर्थ से एकान्वित किया है। इनका क्रमशः विवरण दिया जा रहा है।

(ख) "स्वच्छन्द तंत्र" की "उद्योत" (चतुर्थ पटल) नामक टीका में कहा गया हैं – "आ समन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा पराशक्तिरेव आगमः। तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसन्दर्भः, तदुपायत्वात् शास्त्रस्य॥" अर्थात् "पराशक्ति" ही आगम है – इससे "प्रकाशस्वरूप" शिव अभिन्न रूप से आत्मविमर्श करता है। विशेष "शब्द सन्दर्भ" को तो आगम इसलिए कहा जाता है कि वह उसका प्रतिपादन करता है – शास्त्र-विशेष को भी "आगम" इसलिए कहा जाता है कि उसमें "पराशक्ति" को स्वायत्त करने का उपाय बताया जाता है।

यह "पराशक्ति" (प्रकाशस्वरूपा शिव का) चिदाह्लादमय "स्वभाव" है। इस रूप में "शक्ति" की परिकल्पना किसी भी निगम-मूलक दर्शन अथवा अवैदिक दर्शन (जैन-बौद्ध) में उपलब्ध नहीं होती। यदि होती है - तो वह इसी का संक्रमण है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में विश्व के उपादान का अन्य किसी भी प्रकार के कारणों में इसका उल्लेख नहीं है। वहाँ परिगणित सात पदार्थों में (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष तथा अभाव) शक्ति कहीं नहीं है। जड शक्तिवाद का भी स्वीकार नहीं है। मीमांसक "शक्ति" नामक पदार्थ तो मानते है – पर वह चिन्मय नहीं है। सांख्य दर्शन में भी यहाँ-वहाँ सुनाई पडता है -- "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावाः ऋते चितिशक्तेः" पर यहाँ "चिति शक्ति" का प्रयोग प्रकृति से भिन्न "पुरुष" के लिए किया गया है। यही बात पातंजल योग के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। वहाँ भी कहा गया है — " चितिशक्तिरपरिणामिनी" – अर्थात् चिति शक्ति परिणामिनी नहीं है।

यहाँ भी चिति शक्ति पुरुष-विशेष को ही कहा गया है। वेदान्त या उत्तर मीमांसा में (विशेषकर शांकर धारा में) शक्ति या माया शक्ति मानते हैं – पर वह अनिर्वचनीय, मिथ्या और जड़ मानी जाती है। शांकर भाष्य के सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेप शारीरक मे "अमला चिति शक्ति" कहा है पर वह भी 'ब्रह्म' के लिए ही प्रयुक्त है। प्राचीन युग में भी "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" — जैसे स्थलों में इसकी झंकार सुनाई पड़ती है परन्तु वह परमेश्वर की अचिन महिमा या स्वातंत्र्य है, न कि 'विमर्श' रूप चिदाह्लादमयी। इस प्रकार चिद्रूपा शक्ति का विशेष आलोचन आगम में ही होता है – यह परिकल्पना "आगम" की अपनी पहचान है। यह शक्ति एक तरफ शक्तिमान् से अभिन्न है और दूसरी ओर समस्त विश्व का मूल उपादान भी है। सांख्य या वेदान्त की "प्रकृति" या "माया" की तरह इसका परिणाम नहीं, "संकोच-प्रसार" होता है। तटस्थ जीव द्रष्टा, मायाजाल से बद्ध जीव भोक्ता, तथा किञ्चित् जागृत जीव अभिनेता* होता है। पूर्ण जागरण पर तो यह जीव शिव ही हो जाता है। इस समय यह शक्ति इसी की अपनी शक्ति है। बद्धावस्था में वह सुप्त और विस्मृत है।

(ग) आ-ईषत् उपासनाख्यस्य अंशस्य गमो बोधः यस्मात् स आगमः — अर्थात् जिससे भक्ति नामक श्रेयोमार्ग का एक अंग का ही – बोध हो – वह आगम है। इस पक्ष की विशद व्याख्या ऊपर की जा चुकी है।

(घ) स्वामी करपात्री जी कहते हैं— "आगच्छति - इति आगमः" अर्थात् जो रहस्य परम्परा से गुरु-शिष्य के बीच चलता आ रहा हो – वही आगम है। वेद में जिसका "तदेजति तन्नैजति" कहकर संकेत किया गया है – आगमों में उसका पर्याप्त पल्लवन है।

(ङ) ऊपर कहा गया है कि तत्वतः "वेद" की तरह "आगम" भी ज्ञान स्वरूप ही है। "स्वच्छन्द तंत्र" में कहा गया है —

आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः

अर्थात् "आगम" भी ज्ञानस्वरूप ही है जो अनन्त शास्त्रों का उत्स है। शास्त्र विस्तार शक्ति का ही विस्फार है।

(च) आप्तोपदेश आगम है। आप्त वह है जिसमें वक्तव्य वस्तु की निर्मल अधिगति हो। यही आप्ति है। आप्ति जिसमें हो वह आप्त है। पृथक्-पृथक् प्रसिद्धियों

---

* *टिप्पणी - नर्तक आत्मा। प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि। आत्माभिनयनं भावः - शिवसूत्र॥*

के प्रति पृथक्-पृथक् आप्तता होती है। पाणिनि की आप्तता व्याकरण शास्त्र में हैं – अतः इस विषय में पाणिनि आप्त हैं। "प्रसिद्धिरागमो लोके" — लोक में अनिबद्ध (परम्परा में विद्यमान) प्रसिद्धि तो आगम है ही "निबद्ध प्रसिद्धि" रूप भी आगम विद्यमान हैं जिनका संकेत ऊपर किया गया है। शास्त्रों में आगम को प्रतिभात्मक भी कहा गया है। जनता में सामान्य व्यक्ति जिसकी बुद्धि और तटस्थता में सन्देह हो – आप्त नहीं माना जाता। लोकमानस में प्रतिष्ठा बड़ी परीक्षा के बाद होती है और जब हो जाती है – तो वह प्रसिद्धि फिर प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करती। प्रसिद्धि अपने-आप में प्रमाण हो जाती है। आगम ऐसी ही प्रसिद्धि है। यह प्रसिद्धि जिस व्यक्ति से जुड़ जाती है वह आप्त हो जाता है। उसका वचन आगम है। आप्त आप्त इसलिए भी कहा जाता है कि वह परम्परागत वस्तु को, जो काल प्रवाह में विच्छिन्न हो गई थी – हृदयङ्गम करके जनजीवन के बीच पुनः प्रकट कर देता है, जैसा गीताकार ने किया। जो योग काल-प्रवाह में नष्ट हो गया था – अर्जुन के माध्यम से उसे उन्होंने फिर से जनता के बीच प्रतिष्ठित कर दिया। प्रसिद्धि ही परम्परा की उपनिषद् है – वही आगम है। यह प्रसिद्धि वाग्बद्ध (निबद्ध) भी हो सकती है और अनुष्ठानों में अनिबद्ध होकर भी विद्यमान होती है। प्रतिभानलक्षणा शब्द-भावना तो आगम है ही।

प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एवेति।

[ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी, पृष्ठ ९३]

समग्र आगम अनादि हैं। जिसके हृदय में जिस सिद्धान्त की निरूढि हो गई उसके लिऐ वही आगम है। कहा गया है — *दृढविमर्शरूपं शब्दनमागमः*

प्रतीति या ज्ञान विशेष की निरूढि ही, दृढतापूर्वक विमर्शही स्वाधिकृत आगम का अभ्यास है जो उसे प्रतीति के अनुरूप बनाने में समर्थं होता है – अर्थात् जो जैसा होने की भावना करता है वह वैसा ही हो जाता है।

आगमों में परस्पर विरोधी अर्थ भी होते हैं। उसका कारण वस्तुतः जिस साधक का जिस शब्द में दृढ विमर्श या विश्वास हो – वही उसका आगम है। व्यक्ति-भेद से जिस प्रकार उपचार और निदान भिन्न होता है – वैसे ही साधक के संस्कार-भेद से उसके अपने मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते है। फलतः जिसका जो शब्दात्मक आगम है वह इससे जैसे भी विमर्शन करेगा – उसके लिए वह

वैसा ही होकर घटित होगा या होकर रहेगा। उसका प्रामाण्य तर्क सापेक्ष होकर नहीं – अपतिु प्रसिद्धि या परम्परा से प्राप्त होने के कारण स्वयं है। इस दृष्टि से शैवशास्त्र और वैष्णवशास्त्र भी आगम ही हैं – वे भी नियत व्यक्ति-विशेष से नहीं – परम्परा से चले आ रहे हैं। बुद्ध और महावीर व्यक्ति नहीं है। वे परम्परा में बराबर आते रहे हैं, बार-बार आते रहे हैं। इसी आधार पर डा. के. सी. पाण्डेय का कहना है कि इस दृष्टि से न केवल भारत-भूमि पर उपलब्ध पवित्र और दिव्य पुस्तकें आगम हैं, प्रत्युत कुरान और बाइबिल भी विश्वासियों के लिए आगम हैं। जैन और बौद्ध परम्परा मानती है कि जिन और बुद्ध समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं। कृष्ण ने भी तो अपने बारे में यही कहा है। इसलिए ये व्यक्ति नहीं, जाति है। मिलिन्द ने बुद्ध के बारे में और जैनों ने जिन के बारे में यही तो कहा हैं। अधिकारी, देश, काल, वेश तथा सहकारी कारणों से आगमों की भिन्नता होती है। परम्परागत होने से सभी आगम अनादि हैं।

(छ) "आगम" का अर्थ अवतरण भी है। "परात्रिंशिका विवरण" में कहा गया है —

गुरुशिष्य पदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥

इसका स्पष्टीकरण देते हुए आगमिकों ने बताया है कि आगम मूल में बोधात्मक परावाक् (शक्ति) के रूप में रहता हैं। वही पश्यन्तीभाव में अवतीर्ण होकर मध्यमा भाव में स्थित होता है। तभी परिमित प्रमाता के द्वारा अधिकृत होता है। वस्तुतः प्रकाशमय शिव के स्वभाव में स्थित यह व्यापार प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों का उपजीव्य है – इसलिए वह परप्रमाता का व्यापार होने से नित्य माना जाता है। इसे और स्पष्ट किया जाय तो यह कहना होगा कि चरम सत्य रूप परावाक् परपरामर्शमय बोध रूप है। वही विभिन्न अवस्थाओं में रूपान्तरित होता है। पश्यन्ती उसी की बहिर्मुख अवस्था है। इसी बहिर्मुख भाव में परबोधात्मक शास्त्र "अहमित्याकारक परामर्श रूप में अन्तर में उदित होता है। यह वह स्थिति है जब इदन्तामयी शक्ति प्रकाशस्वरूप शिव में आत्मनिषेध के साथ विद्यमान रहती है — अबहिर्मुख रहती है। यह स्थिति विश्वात्मक शिव की होती है – वह विशिष्ट स्थिति में आ चुका होता है। यही वह बिन्दु है जहाँ उसे "अहम्" (समष्टि विश्वात्मक रूप का प्रतीक) ऐसी चेतना होती है।

यहां सारी "इदन्ता" "अहन्ता" से आच्छादित रहती है। इसी भूमि के प्रत्यवमर्शकारी प्रमाता द्वारा परामर्श-विषय-'इदम्'-बहिरागत नहीं होता, वहां वाचक-वाच्य रूप स्फुटित नहीं रहता – अतः तदात्मक शास्त्र भी स्फुरित नहीं होते। अब आती है – तीसरी स्थिति – मध्यमा – जहां परवर्ती "पश्यन्ती" का आन्तरविमर्श वितत रूप में – वाच्यवाचक भाव रूप में उल्लसित होता है। फिर भी यहां वह भेद नहीं है जो वैखरी स्तर पर होता है। यह भूमि कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यही वह भूमि है जहां परसत्ता चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप पंचमुख का प्रकाश करती है और सदाशिव तथा ईश्वर दशा का आश्रय कर गुरू-शिष्य भाव का परिग्रह धारण करती है। इसी परम्परा से आगम का अवतरण इस भूमि पर होता है – जो वैखरी भूमि पर जड़ शब्द-राशि में अनूदित होकर विखर भाव प्राप्त करता है। यही वह भूमि है जहां चिन्मरीचिमय मंत्रों का उदय होता है – यहां मंत्रराशि चिन्मय और जागृत रहती है। वैखरी स्तर के मंत्र केवल स्मारक होते हैं। वहां तक आते-आते चेतना प्रसुप्त हो जाती है। हां, यह अवश्य है कि जो शास्त्र या मंत्र मध्यमा भूमि पर स्फुट रहते हैं – यहां स्फुटतर हो जाते हैं। मध्यमा मंत्र रूप या शास्त्र रूप में आत्मप्रकाश करती हैं। वैखरी का स्थान स्थूल हैं — यहीं से वह मुद्रित होती है। इसके मूल में मानसिक चिन्ता, मनोगत भाव, शब्दार्थ – सभी जड़ीभाव में आ जाते हैं। यही वैखरी वह भूमि है जहां शब्द और अर्थ का भेद स्पष्ट हो जाता है। इस भूमि में स्मृति परिशुद्धि नहीं होती – स्मृति में सांकर्य रहता हैं – शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का। यहां अर्थ मात्र का निर्भास नही होता। स्मृति परिशुद्धि से ही इस सांकर्य का निराकरण होता है – यह निराकरण मध्यमा भूमि में आरूढ़ होने का आनुषंगिक काल है। वाक् के साथ प्राण और मन का तो गहरा सम्बन्ध है ही – पर वह संवेद्य यहां आवृत रहता है। दीक्षा और अभिषेक से मध्यमा भूमि पर आरोहण होता है। पशु-भाव (वैखरी) से दिव्य-भाव में (पश्यन्ती) आने के लिए मध्यमा मध्यवर्ती भूमि हैं। मध्यमा भूमि में ही परावाक् पंचमुख रूप में आत्मप्रकाश करती है – इसी का पौराणिकीकरण हुआ है और कहा गया हैं — " गुरू शिष्य पदे ....." इत्यादि। सदाशिव विमर्श शक्ति संविद् को ही – जो ईश्वर भावापन्न हैं – शिष्य बनाकर आगम का अवतरण करती हैं। यह वह भूमि हैं जहां नित्य

सिद्ध विभव ज्ञान नाद रूप से प्रकाशित होता हैं। इसके अतिरिक्त यह नाद और कुछ नहीं। शिव-तत्त्व में शक्ति का सतत चलन ही स्पन्दन है या चित् शक्ति के स्फुरण से महामाया का अवाङ्मुख होना है और यही चलन शब्द का मूल है। शिव कारण है और सदाशिव से भूमि पर्यन्त सभी कार्य हैं। शिव ही अमूर्त सादाख्य, मूर्त सादाख्य, कर्तृसादाख्य, कर्मसादाख्य और शिवसादाख्य रूप में पंचमुख हैं – इन्हीं का नामान्तर वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, सद्योजात, और ईशान हैं। ६४ शैवागम इन्हीं मुखों से निःसृत हैं। ये पांचों मुख मंत्रमय हैं – इन्हीं से दिव्यागम प्रसूत हैं।

(ज) कभी-कभी "तंत्र" और "आगम" में कुछ भेद भी दिखा दिया जाता हैं – वैसे ये दोनों पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं। आगम की नैरुक्त व्याख्या इस प्रकार भी दी गई है –– "*आ समन्तात् अर्थम् (वस्तुतत्वं) गमयति – इत्यागमः।*" – इसका अर्थ यह है कि वह शब्दात्मक प्रमाण आगम है जो वस्तु के वास्तविक स्वभाव का स्पष्टतया परिचय देने वाला होता हैं। वास्तव में वस्तु तत्व का स्वरूप बोध तो योगाभ्यास से उद्‌बुद्ध साक्षात्कार से ही होता हैं – अतः वह अपरोक्ष साक्षात्कार ही आगम हैं – बाद में उसके आधार पर रचे गए ये उपदेशात्मक ग्रन्थ भी आगम कहे गए। ये ही उपदेश जब शताब्दियों तक वंश परम्परा या गुरू-शिष्य परम्परा में सुदीर्घ प्रवाह में चलते रहे – तब अपनी विस्तारमयता के कारण "तंत्र" कहे जाने लगे।

तन्यते विस्तार्यते परम्परासु – इति तंत्रम्

इन आगमों का अधिकारी भेद से अभेदपरक, भेदाभेदपरक और भेदपरक – बनाकर प्रचार किया गया। पहले को भैरवागम, दूसरे को रूद्र आगम और तीसरे को शैव आगम कहा गया। भैरवागम चौंसठ, रुद्र आगम अठारह तथा शैवागम दस हैं। कहीं-कहीं ये आगम ग्रन्थ ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या – जैसे पादों में विभक्त हैं और कहीं-कहीं अविभागपूर्वक भी ग्रथित हुए हैं। आगम ग्रन्थ प्रायः शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध और जैन वर्गों में विभाजित हैं। यों और रूप भी हैं – पर यहां उनकी चर्चा अनावश्यक है। यहां तो साहित्य को समझने के लिए जितना आवश्यक है – उतना ही कथनीय हैं। साहित्य को समझने के लिए शैवागम और वैष्णवागम का सामान्य परिचय आवश्यक है।

१.२ शैवागम

परमार्थ या चरमतत्त्व –– अद्वैत है – पर शांकर अद्वैत से भिन्न है। इनके अद्वैत का अर्थ है – दो का नित्य सामरस्य। यहां उन दोनों के प्रकाश-विमर्श, अहम्-इदम्, शक्तिमान्-शक्ति का अभेद अर्थात् सामरस्य रहता है। यह निर्विकार परासंवित् है। यह वह चेतना है जिसको सदा अपनी चेतना रहती है। मतलब वह चित् मात्र ही नहीं है चित् शक्ति भी है। यदि वह शंकर के ब्रह्म की तरह "प्रकाश" मात्र होता तो जड़ और अनीश्वर होता। वह एकसाथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक है। शैव दर्शन में शांकर अद्वैतवाद को शान्त ब्रह्मवाद या केवलाद्वैतवाद कहा जाता हैं। शांकर ब्रह्म निष्क्रिय है – आगम का पंचकृत्यकारी है। शांकर ब्रह्म ज्ञान मात्र और शक्ति रहित हैं– फलतः कूटस्थ और अकर्ता हैं – आगमसम्मत परासंविद् का वैशिष्ट्य उसके ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों में हैं। इसकी क्रिया की धारणा अत्यन्त सीमित हैं – आगम - सम्मत ब्रह्म में क्रिया की व्यापक परिकल्पना हैं – यहां तक कि "ज्ञान" भी इनके यहां क्रिया हैं। शांकर ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं – अतः स्वातंत्र्य भी नहीं, आगमसम्मत ब्रह्म में कर्तृत्व हैं – अतः स्वातंत्र्य भी हैं। शांकर ब्रह्म अविद्योपहित होने पर ही "ईश्वर" कहा जाता हैं – तभी उसमें कर्तृत्व आता हैं – वह भी आगन्तुक और औपाधिक हैं। शांकर अद्वैत की तरह आगमसम्मत अद्वैत में भी "माया" या "अविद्या" को स्थान हैं – पर उसमें एक बड़ा अन्तर हैं। शांकरी माया उसकी अपनी शक्ति नहीं है – अतः वह उसे ढँक लेती है और अनियंत्रित खेल खेलती रहती है – जबकि आगम का अद्वैत अपने ऊपर स्वेच्छा से डालकर अपने स्वरूप को संकुचित कर लेता हैं। यह माया भी उसी के कर्तृत्व का एक पक्ष हैं। शांकर ब्रह्मवाद में माया अनिर्वचनीय है – आगम ब्रह्मवाद में वह शिव की ही यथार्थ शक्ति हैं – साथ ही भेद और नानात्व की जननी।

शांकर ब्रह्मवाद जगत् को असत्य मानता है पर आगमसम्मत ब्रह्मवाद शक्ति-प्रसूत होने से सत्य और आनन्दमय मानता हैं– उसमें दुःखमयता की अन्यथा प्रतीति दृष्टिगत संकोच के कारण होती हैं। पहला व्यावृत्तिमूलक है और दूसरा अनुवृत्तिमूलक, पहला त्यागी है और दूसरा सर्वग्राही। शांकर ब्रह्मवाद में मुक्ति होने पर जगत् निरस्त हो जाता है जबकि आगमिक ईश्वराद्वयवाद में आत्म-विलास होने के कारण अपना ही प्रसार ज्ञात होता हैं। शांकर ब्रह्मवाद में विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाती हैं। ईश्वराद्वयवाद में अज्ञान दो प्रकार का होता हैं – पौरुष और बौद्ध। पहला स्वरूपगत है और दूसरा बुद्धिगत हैं। विद्या से केवल बौद्ध

अज्ञान निवृत्त होता हैं। पौरुष अज्ञान केवल सिद्ध-गुरु या परमेश्वर के शक्तिपात से होता हैं।

इस मत में जगत् अन्तःस्थित का बहिःप्रकाश हैं। जैसे बीज में वट समाया रहता हैं, वैसे ही शक्ति में विश्व समाया रहता है। सर्जन की दृष्टि से यहां स्वातंत्र्यवाद है और विश्व की अभिव्यक्ति की दृष्टि से आभासवाद। परम शिव की पाँच शक्तियाँ मुख्य हैं — चित् (आत्मप्रकाशन की शक्ति), आनन्द (स्वातंत्र्य शक्ति) इच्छा (सर्जन शक्ति) ज्ञान तथा क्रिया (कोई भी आकार ग्रहण करने की शक्ति)। चित् और आनन्द तो महेश्वर के स्वरूप ही है। इच्छा सदाशिव की, ज्ञान ईश्वर का और क्रिया — यह प्ररूप शुद्ध विद्या का है। वही विश्वोत्तीर्ण रूप में परमशिव, पर विश्वमय सर्जनात्मक रूप में वह शिव तत्त्व है। यह परमशिव का स्पन्द है। शिव की शक्ति निषेध व्यापार रूपा है। यह पहले "इदम्" का निषेध कर देती है। चित् में अहम्-इदम् — अभिन्न है। सदाशिव में अहं स्फुट और इदं घ्यामल रहता है — ईश्वर मे इदम् किंचित् स्फुट होता है। शुद्धविद्या मे दोनो समकक्ष स्फुट रहते है। यहा तक अभिव्यक्ति का शिवमार्ग शुद्धाध्वा कहा जाता है। यहाँ आत्म में अनात्म स्फुरित होता है — यह अभेद तथा भेदाभेद भूमि है। इसके बाद भेद-भूमि है। इसमें स्वेच्छा से शिव आणवमल से स्वरूप का गोपन कर जीव भाव प्राप्त करता है। तदनन्तर 'माया' शक्ति से भेद-भूमि पर अनेक हो जाता है और तब कला, काल, विद्या, राग और नियति जैसे कंचुकों के कारण उसकी तमाम शक्तियाँ संकुचित हो जाती है – वह अनीश्वर हो जाता है। शुद्धाध्वा का 'अहम्' ही अशुद्धाध्वा में पुरुष तथा 'इदम्' ही 'प्रकृति' बन जाता है। यहाँ प्रति जीव प्रकृति भिन्न होती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ही इस अध्वा में सत्व, रज तथा तम बन जाते है। इस प्रकृति से सांख्य दर्शन के अनुसार २५ और तत्त्व क्रमशः आभासित होते है – प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार और चित्त, दश इन्द्रियां, पंच तन्मात्रा और पंचमहाभूत। इस प्रकार कुल ३६ तत्त्व होते हैं।

इस प्रस्थान में शरीर पांच प्रकार के होते है — स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा शक्ति (चिदानन्दमय)। इसमें शक्ति प्रसुप्त रहती है। जन्मजात अविद्या के कारण यह बन्धन में जाता है। यही अविद्या आणवमल है। मायीयमल भेद की और कार्ममल प्रारब्ध भोगोपयोगी शरीर का निमित्त है।

इस दर्शन में अज्ञान ही बंध है और मोक्ष का अर्थ है – स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा या पहचान तदर्थ पारमेश्वर शक्तिपात, श्री सद्गुरु द्वारा दीक्षा और साधक-कृत उपाय। यह उपाय भी चार प्रकार का है — अनुपाय, शांभव, शाक्त और आणव।

१.३ वैष्णवागम (भक्ति के साम्प्रदायिक रस शास्त्र के संदर्भ में)

भक्तगण वैष्णव हैं। — अतः उन पर पांचरात्र का प्रभाव भी सम्भव है। वैष्णवागम दो हैं– वैखानस आगम और पांचरात्र आगम।

१.३.१ वैखानस की व्याख्या

प्रथम का प्रचलन दक्षिण में और द्वितीय का उत्तरांचल में है। वैखानस की व्युत्पत्ति यास्क ने दी है, "विखननाद् वैखानसः" — इसका विशदीकरण प्रस्तुत करते हुए उत्तमूर वीर राघवाचार्य ने कहा है — "*विशेषेण खननाद् गभीरार्थोद्धरणात् विशिष्टवैष्णवधर्मविधारणौपयिकमीमांसन विशेषात् विखनना इति विखनस इति चोच्यते।*" अर्थात् वैष्णवों के धर्म-विशेष के अनुरूप गम्भीर अर्थ का खनन या उद्धरण करने के कारण ही इन्हे विखना या विखनस जैसी संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। कई प्रसंगों में वैखानस को ब्रह्मा ही कहा गया है। इसके पीछे यह धारणा हो सकती है कि जहाँ वैखानस नारायण और लक्ष्मी के औरस पुत्र कहे गए है वहीं ब्रह्मा भी नारायण की नाभि से निकले हैं। अथवा यह भी सम्भव है कि नारायण द्वारा ब्रह्मा को विखनस का सिद्धान्त समझाया गया हो। कृष्ण यजुर्वेद की चार प्रधान शाखाओं में औरवेय अन्तिम शाखा है और उससे इस प्रस्थान को जोड़कर इसकी वैदिकता प्रतिपादित की गई है। कहा गया है —

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौरवेयं तस्मै विखनसे नमः॥

नारायण द्वारा उपदिष्ट अर्थ को लेकर वैखानस ने औरवेय सूत्रों का निर्माण किया था। औरवेय शाखा वैखानस के नाम से भी व्यवहृत होती है। दक्षिण भारत – विशेषतः आन्ध्र में इसका अधिक प्रचार है।

१.३.२ पांचरात्र की व्याख्या

जहां तक "पांचरात्र" का सम्बन्ध है — इसे भी अनेक तरह से स्पष्ट किया गया है। १. इस शब्द का पुराना प्रयोग शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। वहाँ नारायण को पांच रातों में सम्पन्न होने वाले यज्ञ का सम्पादक कहा गया है (शतपथ ब्राह्मण-१३,६,१)। विष्णु तंत्र के अनुसार देहियों के लिए नियत, वायु, वह्नि, आप तथा धरा – ये पांच "रात्रि" शब्द से अभिहित हैं। जो तंत्र इन अविद्या-प्रसूत रोगों से मुक्ति दिलाए वह "पांचरात्र" है। इस प्रकार इसकी विभिन्न व्युत्पत्तियाँ बताई गई

हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि "रात्रि" शब्द सामान्यतः काल का बोधक है। इस दृष्टि से "पांचरात्र" का अर्थ होगा— "पंचकाल"। पांचरात्र संहिता के अनेक स्थलों में "पंचकाल-पारायण" शब्द पांचरात्र सम्प्रदाय के विशेषज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस "पंचकाल" कथन से पांचरात्रिक वैष्णवों के पंचकाल प्रक्रिया में वर्णित आचार निर्वाहक पंचकाल विवक्षित है। इस आचार प्रतिपादन के लिए (१) अभिगमन (२) उपादान (३) इज्या (४) स्वाध्याय और (५) योगकाल का निर्देश है। दिनरात के चौबीस घंटों में प्रातः से लेकर रात्रि के उत्तरार्ध तक सम्पादित होने वाले ये आचार हैं। यह पंचकाल प्रक्रिया अपने-आप में एक प्रमुख पांचरात्रिक विषय है। अतः इस आधार पर "पांचरात्र" संज्ञा में अधिक युक्तियुक्तता है।

(अ) **ज्ञान :** नारद पांचरात्र में कहा गया है — "*रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्*" (११४४)। ये पांच ज्ञान है — परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय। आहिर्बुघ्न्य संहिता भी यही कहती है।

(ब) **वेदमूलकता :** इसको भी वैदिक सिद्ध करने के लिए शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा और एकायन को एक कर उसी शाखा से (पांचरात्र को) सम्बद्ध कर दिया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में आया है — "*ऋग्वेदो भगवोऽध्येमि वाक्यमेकायनम्*" (७।१।२)।

(क) **'समवत' और 'भागवत' की एकता :** "पाञ्चरात्र" को सात्वत आगम भी कहा जाता है जिसका एकीकार आगे चलकर "भागवत" प्रस्थान से हो गया। मुक्ति में "प्रपत्ति" ही एक अयन है – अतः "एकायन" शाखा से इसे सम्बद्ध कर दिया गया है।

(ड) **दर्शन - निर्गुण-सगुण :** इस प्रस्थान में परब्रह्म के सगुण-निर्गुण (प्राकृत गुणरहित) उभयविध भाव स्वीकृत है। आहिर्बुध्न्य संहिता में कहा गया है—

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
षाड्गुण्यं तत् परब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥ २।५३॥

वह द्वन्द्वातीत, सर्वविध परिच्छेदों से शून्य, प्राकृत गुणरहित होने से निर्गुण तथा षाड्गुण्ययुक्त होने से सगुण कहा जाता है। यह जगत् का उपादान और निमित्त - उभयविध कारण है। यह सर्वशक्तिमान् तथा स्वातंत्र्य सम्पन्न है। भगवान् की षाड्गुण्यमय नारायण की सगुण शक्ति का नाम लक्ष्मी है, उन्हीं से ये शक्तिमान् हैं। इन दोनों में आपाततः अद्वैत प्रतीत होता है — पर वस्तुतः अद्वैत नहीं है। प्रभा और

भानु का-सा ही इनका पारस्परिक सम्बन्ध है — पर प्रलयकाल में भी इनका भेद बना रहता है। आहिर्बुध्न्य संहिता में कहा गया है —

व्यापकावतिसंश्लेषादेकतत्त्वमिव स्थितौ। (४।७८)

तथा—

[एकता में प्रमाण] *देवाच्छक्तिमतोऽभिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः* (वही,३-२५-२७)

(इ) **सृष्टिक्रम :** इस लक्ष्मी के सृष्टिकाल मे दो रूप हो जाते है – क्रियाशक्ति तथा भूतिशक्ति। भगवान् की सिसृक्षा ही क्रियाशक्ति है तथा जगत् की परिणति (भवनं भूतिः) ही "भूति" शक्ति है। लक्ष्मी को इच्छा शक्ति तथा सुदर्शन की क्रियाशक्ति कहा गया है। सृष्टि यहां भी शुद्ध तथा शुद्धेतर होती है।

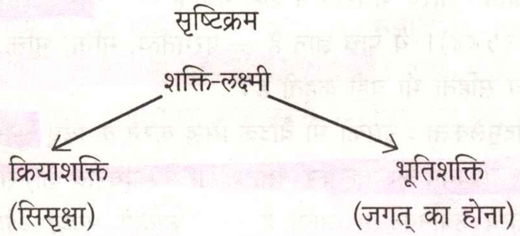

(ई) **व्यूहवाद :** भगवान् लोकमंगल के लिए अपने-आप ही लोकमंगलार्थ चार रूपों की सृष्टि करते है — (१) व्यूहवाद (२) विभव (३) अर्चावतार तथा (४) अन्तर्यामी। इन सबसे परे है — "पर"। जगत् व्यापार के लिए ही इनमें षाड्गुण्यकी बात की जाती है— ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है और उसका गुण भी। शक्ति जगत् का उपादान कारण है। ऐश्वर्य का अर्थ है — स्वातंत्र्य परिवृंहित जगत् का कर्तृत्व, जगत् निर्माण में जो उन्हे श्रमाभाव है– वही बल है। इसी प्रकार जगत् का उपादान होने पर भी जो उनमें विकार राहित्य है वही वीर्य है। जगत् सृष्टि में सहकारी कारण की अनपेक्षा को ही तेज कहते है। इन षड्गुणों में से दो-दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है। संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य और अनिरुद्ध में शक्ति तथा तेज का प्राधान्य होता है। इन तीनों के सर्जनात्मक तथा शिक्षणात्मक द्विविध कार्य होते है। संकर्षण का काम सृष्टि करना ही नही है, ऐकान्तिक मार्ग का उपदेश देना भी है। प्रद्युम्न का कार्य ऐकान्तिक मार्गसम्मत क्रिया की शिक्षा देना भी है। अनिरुद्ध का काम मोक्ष

(क्रिया फल) के तत्त्व की शिक्षा देनी है। षाड्गुण्य चारों व्यूहों में सामान्यतः विद्यमान रहता है – वैषम्य में गुण प्रधान भाव होता है। चतुर्व्यूह भगवद् रूप ही होते है– पर आचार्य शंकर का पक्ष यह है कि वासुदेव से संकर्षण (जीवों की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। चतुर्व्यूह पांचरात्र का प्रमुख सिद्धान्त माना जाता है।

विभव –– इसका अर्थ है अवतार। यह संख्या में ३९ हैं। विभव दो प्रकार के हैं – मुख्य और गौण । पहले वर्ग में आने वालों की उपासना मुक्ति के लिए की जाती हैं और दूसरे वर्ग में आने वालों की उपासना "भुक्ति" के लिए की जाती हैं।

अर्चावतार–– पांचरात्र विधि से पवित्रित किए जाने पर प्रस्तर आदि की मूर्तियां भी भगवान् की अवतार मानी जाती हैं।

अन्तर्यामी –– सभी प्राणियों के हृदय में वास करते हैं और उनके समस्त कर्मों के नियामक होते हैं। यह सब शुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत हैं। अशुद्ध सृष्टि का क्रम भिन्न है। वह यों हैं → प्रद्युम्न → कूटस्थ पुरुष→ माया शक्ति → नियति → काल → सत्वगुण → तमोगुण → बुद्धि → अहंकृति, आदि।

नारायण का स्वातंत्र्य अलौकिक है। जगत् उनकी लीला है। भगवान् के संकल्प को इच्छा-शक्ति या सुदर्शन कहा जाता हैं – जो अनन्त रूप होने पर प्रधानतया पाँच प्रकार का हैं — उत्पत्ति, स्थिति, विनाशकारी शक्तियाँ, निग्रह शक्ति (माया, अविद्या या तिरोधान शक्ति) तथा अनुग्रह शक्ति। तिरोधान शक्ति के कारण ही जीव की व्यापकता, सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता – आदि संकुचित हो जाती हैं। उनकी अनुग्रह शक्ति का ही नाम "शक्तिपात" हैं। यही कृपा हैं – जो जीव पर होती हैं।

जहां तक इस प्रस्थान में साधना का सम्बन्ध है – मन्दिर निर्माण, प्रतिमा स्थापन, पांचरात्र विधि से पूजन तो हैं ही – योग का भी विधान हैं। अन्ततः भक्ति ही जीव की मुक्ति का प्रधान साधन हैं। भक्तवत्सल भगवान् की अकारण कृपा ही जीवों को मुक्ति दिला सकती है। शरणागति अनायास ही अनुग्रह शक्ति को प्रोद्बुद्ध करती है। शरणागति का स्वरूप है ––

अहमस्म्यपराधनालयोऽकिञ्चनोऽगतिः
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥

–– आ.सं. २७।३१।

इसके छह अंग हैं --

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।

रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा॥

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विच्चशरणागतिः॥–आ.सं.,३७-३८, ५२११५-२५

अर्थात् आनुकूल्य का संकल्प, प्रातिकूल्य का वर्जन, वे रक्षा करेंगे ही – ऐसा दृढ़ विश्वास, गोप्ता के रूप में उनका वरण, नितान्त दैन्य तथा आत्मसमर्पण। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया हैं – वैष्णव भक्त को "पंचकालज्ञ" कहा गया हैं। और वे पांच हैं – (क) अभिगमन – मन, वचन तथा कर्म से जप, ध्यान तथा अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना (ख) उपादान - पूजाके निमित्त फल पुष्पादि का संग्रह (ग) इज्या - पूजा (घ) अध्याय – आगम ग्रन्थों का श्रवण, मनन तथा उपदेश (ड) अष्टांग योग का अनुष्ठान (जयाख्य संहिता, पटल २०, श्लोक ६५-७५)।

इस उपासना के बल पर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती हैं। यहां मुक्ति को ब्रह्मभावापत्ति (मोक्ष) कहते हैं। इस दशा में वह निरतिशय आनन्द का भोग करता है। इस काल में जीव "पर" रूप के साथ परमव्योम में (शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न) वैकुण्ठ में आनन्दपूर्वक विहार करता है। यह "पर वासुदेव" व्यूह वासुदेव से भिन्न है। इनकी मुक्ति सायुज्य मुक्ति हैं। इस प्रस्थान में भक्ति और प्रपत्ति – ये दो ही मोक्ष के मुख्य साधन हैं। भक्ति योग के अधिकारी वे हैं जिनमें कर्म, सांख्य तथा भक्ति तीनों का सामर्थ्य हैं। भक्त त्रैवर्णिक होता हैं और विलम्ब सहिष्णु होता हैं – फलतः "भक्ति" विलम्ब सापेक्ष हैं – पर शूद्र प्रारब्ध भोग में असहिष्णु हैं – अतः उसके लिए प्रपत्ति ही एकमात्र रास्ता हैं। पंचकालिक कृत्यों का शरणागति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भगवान् की प्रसन्नता के दो ही रास्ते हैं – भक्ति और प्रपत्ति। जब जीव उसे पाने में अपने बल और पौरुष को अपर्याप्त मान लेता हैं तब उसको पाने के लिए उसी को उपाय मान लेता हैं – यही प्रपत्ति हैं। इसके लिए महाविश्वास आवश्यक है। महाविश्वास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं — (१) उद्देश्य को दुर्लभ नहीं मानना (२) उपायों में व्यर्थता का भाव न लाना तथा (३) निरन्तर अपने दोषों का अनुसंधान क रते-करते भरोसा को न छोड़ना। प्रपत्ति षडंग होती हैं – यह बात ऊपर कही जा चुकी हैं। एक भिन्न दृष्टि से यह दो प्रकार की होती हैं – आर्त और दृप्त। आर्त

प्रपत्ति में सभी अंगों का सान्निध्य एकसाथ होता है किन्तु दृप्त प्रपत्ति में एक निर्दिष्ट क्रम लक्षित होता हैं। दृप्तप्रपन्न प्रारब्ध भोग कर लेता हैं – आर्त असहिष्णु होने से तत्काल छूटना चाहता हैं। प्रपन्न का मुख्य गुण होता हैं – चातक की भाँति दृढ़ निष्ठा। यद्यपि भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग – सा कोई साधन नहीं हैं – फिर भी हैं। कैंकर्य ही कर्मयोग है, स्वरूप-बोध से युक्त रहना ज्ञान-योग है – युगल स्वरूप के प्रति प्रीतियुक्त रहना भक्तियोग है। प्रपत्ति या आत्म-समर्पण में फल-समर्पण, भार-समर्पण तथा स्वरूप समर्पण होता है। टेङ्गल अकारण कृपा मानता है बड़गल क्रिया-सापेक्ष कृपा मानता है। इस प्रकार शैवागम और पांचरात्र वैष्णवागम के आलोक में वैष्णवों को थोड़ा-बहुत समझा जा सकता है।

१.४ आगम-निगम समन्वय

ऊपर कहा जा चुका हैं कि निगम और आगम भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत हैं और भारतीय संस्कृति "समन्वयी" मानी जाती हैं न कि "सामासिक"। अपनी प्रकृति के अनुसार भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने यदि कहीं इनमें विरोध देखा भी तो उसका समन्वय कर लिया और इस समन्वय की फलीभूत परिणति हमारे सामने हैं। इस सन्दर्भ में मुझे अपनी ओर से कम कहना हैं और तत्सम्बन्धी प्रयास को अधिक दुहराना हैं। समन्वय का अर्थ हैं – अन्वयगत सम्यक्त्व। अन्वय अर्थात् सम्बन्ध को ठीक-ठीक बिठा देना। दो के बीच जब "अतियों" या "विकृति"यों से सम्बन्ध अयथास्थान हो जाय - बिगड़ जाय – तब उसे यथास्थान लाना पडता हैं। ये दो हैं – हमारा मूल गन्तव्य और उस तक पहुंचने वाले मार्ग। भारतीय संस्कृति के उन्नायक तत्वदर्शियों में समन्वय की अभूतपूर्व क्षमता रही हैं – फलतः उन्होंने ऊपरी भेदभाव को नजरअन्दाज करते हुए तमाम मार्गों की उपयोगी पद्धतियों में "गन्तव्य" के अनुरूप सम्भावना देखकर सम्बन्ध ठीक कर लिया हैं। राष्ट्र की संस्कृति राष्ट्र की वह जीवनी शक्ति हैं जो, अपनी प्रकृतिगत सम्भावनाओं को सार्वभौम सत्य तक पहुँचाने में अनुरूप और विरूप तत्वों का खुली दृष्टि से आदान और विसर्जन करती चलती हैं। सम्प्रति हमारी यह सांस्कृतिक पाचन-शक्ति कमजोर पड़ गई हैं इसलिए इसकी चिन्ता प्रासंगिक सामयिक है।

आगम और निगम के स्वरूप पर विचार तात्विक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से किया जाता हैं। एक ओर ऐतिहासिक दृष्टि से किए गए विचारों को आत्मसात्

कर कविराज गोपीनाथ, आचार्य क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय तथा शशिभूषण दासगुप्त आदि मनीषियों ने माना हैं कि आगमिक साधनापद्धति-गुह्यसाधनापद्धति भारत के बाहर भी मिश्र, क्रीट, एशिया माइनर तथा मध्य एशिया आदि में फैली हुई थी। इस पद्धति के साधकों का सरस्वती और दृषद्वती के तटों पर पनपने वाली नैगमिक पद्धति के साधकों से सम्पर्क हुआ और दोनों एक दूसरे से लाभान्वित हुए। इन विद्वानों ने दोनों प्रस्थानों की सहवर्तिता के प्रमाण ढूंढ़ निकाले हैं। दूसरी ओर तात्विक दृष्टि से विचार करने वालों के प्रतिनिधि आचार्य भर्तृहरि भी यही कहते हैं --

न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवादौ व्यवस्थितम्॥ (वा.प.प्र.का., १३४)

अर्थात् कोई भी आगमों को अकर्तृक नहीं मानता। त्रयी अर्थात् वेद ही आगमों का मूल हैं। पूर्वागमों के उच्छिन्न हो जाने पर वेद में ही बीज रूप से सन्निविष्ट रहने के कारण उन्हीं के आधार पर आगमान्तरों का निबन्धन किया जाता हैं - अतः उनकी भी प्रवाह-अनादिता सिद्ध होती हैं और आगम (परम्परा प्राप्त) संज्ञा भी अन्वर्थता पा जाती हैं। व्याकरण के आचार्य का प्रातिनिध्य इस सन्दर्भ में अधिक उपयुक्त इसलिए हैं कि एक तरफ "व्याकरण" वेद या नियम के अंगों में "मुख" स्थानीय हैं और दूसरी ओर आगम की परावाक् वाली धारा को धारण करता हैं। यह अवश्य है कि शब्द ब्रह्मवादी "पश्यन्ती" को ही परावाक् कहते हैं जबकि आगम चरम तत्त्व की स्वरूपभूत शक्ति के रूप में समझते हैं। प्रमाण ही नहीं, तर्क से आगम-निगम-समन्वय की पुष्टि होती हैं। "स्वच्छन्द" तंत्र की टीका में आगम की परिभाषा दी गई हैं —" *आ समन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा पराशक्तिरेव आगमः, तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसन्दर्भः, तदुपायत्वात् शास्त्रस्य"* – अर्थात् अभिधा में आगम बोधात्मा परावाग्-रूपा वह शक्ति ही हैं जो पारमेश रूप का अभेदेन परामर्शन करती हैं। ग्रन्थ या शास्त्र तो उसका प्रतिपादन करने के कारण उपचारतः "आगम" कहे जाते हैं। "वागम्भृणीसूक्त" (१०/१२५) में जिस शक्ति तत्त्व का प्रतिपादन है, शक्ति तंत्र उसी के भाष्यभूत माने जा सकते हैं। विभेद अवान्तर मान्यताओं तथा आचार में हैं। पं. विद्यानिवास मिश्र भी कहते हैं — " भर्तृहरि के शब्द ब्रह्मवाद की गहराई में जाने पर यह स्पष्ट हो जाता हैं कि यह वैदिक चिन्तन और आगमिक चिन्तन को जोड़ने वाली एक कड़ी है।" (भारतीय भाषा दर्शन की पीठिका, पृष्ठ ५) पण्डितजी की धारणा है कि वस्तुतः यह तत्त्वदर्शन

शैव प्रत्यभिज्ञा और निम्बार्क के द्वैताद्वैत के मध्य-बिन्दु पर अवस्थित है। आगम से जिस शक्तिवाद की स्थापना होती हैं और जिस तरह आगम का वह असाधारण व्यावर्तक तत्त्व बनता हैं, उसका संकेत वैदिक ऋचाओं और उपनिषदों में स्पष्ट मिलता हैं। ईशावास्य में स्पष्ट कहा गया हैं – *तदेजति तन्नैजति।*

चरम सत्ता स्पन्दनशील भी हैं और स्पन्दातीत भी। प्रथम विश्वात्मक हैं और द्वितीय विश्वातीत। निष्कर्ष यह कि तात्विक स्तर पर "आगम" की जो असाधारण पहचान हैं : चिन्मय शक्तिवाद, उसके बीज "निगम" में उपस्थित हैं। इसीलिए तात्विक दृष्टि से निगम और आगम के स्वरूप पर विचार करते हुए जब कविराज गोपीनाथ कहते हैं –– "निगम और आगम दोनों शब्दात्मक होने पर भी दिव्य तथा अपौरुषेय ज्ञान के ही प्रकार हैं।" तब उनकी स्वरूप की दृष्टि से एकता ही सिद्ध होती हैं, अन्तर दोनों की कार्यप्रणाली में हैं। बहिर्मुखी दृष्टि से वेद शब्द से चाहे जो तात्पर्य निकाला जाय, पर तत्त्वतः वेद का स्वरूप अतीन्द्रिय शब्दात्मक सूक्ष्म ज्ञान-विशेष हैं। इसीलिए "पुराकल्प" में लिखा हैं —

यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणः
मन्त्रदृशः पश्यन्ति, तामसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्य-
माणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिरव्यासन्ते।

अर्थात् जिन्होंने धर्म तत्त्व का साक्षात्कार किया है वे ऋषिगण इन्द्रियातीत सूक्ष्मा वाक् का दर्शन करते हैं। जिन्हें धर्म तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ वे उसका दर्शन नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को सूक्ष्मा वाक् का संवेदन कराने के लिए ऋषिगण उस अतीन्द्रिय वाणी को इन्द्रियगोचर वेद-वेदांग के रूप में प्रकट करते हैं। यह वेद-वेदांग ही "बिल्म" पद का वाच्य हैं। स्वप्नानुभूति को प्रकाशित करने के लिए जैसे स्थूल इन्द्रियगोचरा वाणी का प्रश्रय लिया जाता हैं वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्मा वाक् का निरूपण भी आवश्यक हैं। यह सूक्ष्मा वाक् परावाक् ही हैं। वेद इसी अतीन्द्रिय परावाक् का अवतीर्ण रूप हैं, स्वरूप नहीं, क्योंकि मन्त्रद्रष्टा को छोडकर अन्य के सम्मुख वेद-रूप स्वरूपतः प्रकाशित हो – ऐसा सम्भव नहीं हैं। वस्तुतः वेद एक ओर स्वरूपतः अभिन्न है, वह वागात्मक नहीं, बोधात्मक है किन्तु अभिव्यक्ति काल में वागात्मक होकर यह शब्द-क्रम से प्रकाशित होता है। प्रचलित वेद विभिन्न रूपों से आम्नात है, ये उस आम्नात अखण्ड वेद के अनुकरण मात्र है। आचार्य भर्तृहरि भी प्रचलित वेदों को अनुकार ही कहते हैं।

एक की प्रणाली संस्कार-सापेक्ष द्विज द्वारा "यजन" की है जबकि दूसरे की संस्कृत-असंस्कृत सार्ववर्णिक अन्तर्याग की। पहले का ध्यान उत्तरोत्तर लोकमंगल से परमार्थ की ओर जाता हैं, दूसरा शक्ति-साधन के सन्दर्भ में इतनी छूट दे देता है कि उससे अतियाँ और विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं और विरोध की स्थिति पैदा हो जाती हैं। समन्वय की चिन्ता बढ जाती हैं, स्वैराचार की वृद्धि से सन्मार्ग और सद्धर्म बाधित होने लगते हैं फिर आचार्यों को खण्डन करना पड़ता है।

इतना होने पर भी पारम्परिक वाङ्मय में कहीं निगमानुयायी आचार्य आगमों का विरोध करते हैं और कहीं आगमानुयायी शाण्डिल्य जैसे महर्षि निगमों की अपर्याप्तता बताते हैं। एक तरफ आचार्य शंकर अपने "ब्रह्मसूत्र भाष्य" में "उत्पत्त्यसम्भवात्" तक जो कुछ कहते हैं उससे आगम (पांचरात्र) का खण्डन करते हुए उसकी मान्यताओं को असंगत बताते हैं जबकि दूसरी ओर "भाष्य" और "रत्नप्रभा" टीका के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि शाण्डिल्य आदि आगमिक वेद की अपर्याप्तता बताकर उसका विरोध करते हैं --

(क) *चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान् इत्यादि-वेदनिन्दादर्शनात्*।

(ख) *एकस्यापि तन्त्राक्षरस्वाध्येता चतुर्वेदेभ्योऽधिकः इति निन्दापदार्थः*।

म.म. कविराजजी का पक्ष हैं कि यह वेद-विरोध नहीं, वस्तुवाद है। अपने पक्ष की पुष्टि करते हुए कविराजजी कहते हैं -- "पांचरात्र अथवा भागवत धर्म भक्ति-प्रधान हैं।" वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा अधिक नहीं हैं। यद्यपि कई लोग वैदिक उपासना का भक्ति के स्थान में ग्रहण कर लेते हैं। किसी अंश में यह ठीक भी है तथापि "भक्ति" शब्द का जो वाच्यार्थ है वह वैदिक कर्मकाण्ड अथवा ज्ञानकाण्ड के उपासना काण्ड में स्पष्ट रूप से नहीं मिलेगा, यद्यपि "एकायन" मार्ग आदि का निदर्शन वैदिक साहित्य में भी हैं तथा इसके बहुल प्रचार का प्रमाण वैदिक ग्रन्थों में दिखाई नहीं पडता। करपात्री जी अवेदमूलक को मान्यता नहीं देते – फलतः भक्ति को वेदमूलक सिद्ध करते हैं। इस विरोध के समन्वय के सन्दर्भ में यही कहना है कि एकत्र उसके संकेत हैं और अन्यत्र पल्लवन। गोस्वामी तुलसीदास भी "श्रुतिसम्मत हरि-भक्ति" की बात करते हैं जबकि शाण्डिल्य-नारद समर्पित "साध्य" भक्ति के वे कट्टर उपस्थापक हैं।

विद्वानों का विचार हैं कि वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट "ज्ञान" का क्रियात्मक या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय हैं। आगम तथा निगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम समस्या हैं। तंत्र ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता हैं कि तंत्र या आगम दो प्रकार के हैं – वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कतिपय तंत्रों के सिद्धान्त तथा आचार का मूल स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता हैं। पांचरात्र तथा शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदबाह्य ही माना गया हैं। शास्त्रों के सप्तविध आचारों में वामाचार ही अपनी घृणित पद्धति के कारण अवैदिक माना जाता हैं। अन्य वेदबाह्य आगमों के विषय में भी यही कहा गया हैं —

अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् मोहनानि वै।
वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि तु।
वामं पाशुपतं सोमं लांगलं चैव भैरवम्।
न सेव्यमेतत्कथितं वेदबाह्यं तथेतरत्। – कूर्मपुराण।

वायुसंहिता में स्पष्ट ही कहा गया हैं —
शैवागमोऽपि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च संस्मृतः।
श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरो मतः॥

और अन्ततः निष्कर्ष यह हैं —
यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् विविधानि तु।
श्रुति-स्मृति-विरुद्धानि प्रकृतिस्तेषां हि तामसी॥

अर्थात् आगम श्रुति-अविरोधी भी हैं और श्रुति-विरोधी भी। जो तामसी प्रकृति के हैं, उनके लिए वैसे आगम कहे गए हैं, वहां तो स्पष्ट ही समन्वय की सम्भावना नहीं हैं।

इसी प्रकार "आगम रहस्य" की प्रस्तावना में श्री गंगाधर द्विवेदी ने ठीक कहा है, आगम और निगम के आचार-विचार और आर्य परम्पराओं को देखते हुए सामान्यतः शास्त्रसम्मत दोनों की एक वाक्यता हैं। किन्तु विशुद्ध वैदिक मार्ग के अनुगमन का अधिकार केवल त्रैवर्णिकों के लिए हैं। श्रुति-अनुरोधी तंत्र प्रामाणिक हैं, वे तो मान्य हैं परन्तु अन्य वेदबाह्यतंत्र जिनकी सूची काफी लम्बी-चौडी है, एकदेशीय होने से इसके अन्तर्गत नहीं लाए जा सकते। उनमें निर्दिष्ट साधन और आचार-विचार इतने उटपटांग हैं कि वर्णाश्रमधर्म के नियमों की एकान्ततः अवहेलना करते हैं और इसके

साथ मेल नहीं खाते। इनमें लिंगायत और पाशुपत आदि तंत्रों को इसी की श्रेणी में गिना जाता हैं।

"ब्रह्मसूत्र" के भाष्यकार श्रीकण्ठाचार्य ने स्पष्ट कहा हैं –– "*उभावपि प्रमाणमतो वेदागमौ।*" इस भाष्य के टीकाकार अप्पयदीक्षित ने "शिवाकर्मणिदीपिका" में तंत्रों को वैदिक और अवैदिक दो मार्गों में बाँटकर एक वेदाधिकारियों के लिए, दूसरा उसके अनधिकारियों के लिए बताया है। मतलब यह कि आगमों की प्रामाणिकता अधिकार-भेद से है।

"कुलार्णवतंत्र" तो आगम को निगम की भाँति स्वतःप्रमाण मानता हैं –– "*तस्मात् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये।*" मनु-स्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट अपनी "मन्त्रार्थ मुक्तावली" में कहते हैं – "*अथातो धर्मं व्याख्यास्याम:, श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तांत्रिकी च*" तंत्रदर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य भास्कर राय ने तंत्रों को श्रुति का अनुगामी होने से परतः प्रमाण माना है। वे तंत्रों को स्मृतिशास्त्र के अन्तर्गत मानकर ही उनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं –– *तंत्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः* (वरिवस्या रहस्य)

वे ही "ललितासहस्रनाम" के "सौभाग्यभास्कर" में कहते हैं ––

परमार्थतः तु तंत्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्त्रादिस्मृतीनां
कर्मकाण्डशेषत्व तंत्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिध्दान्तात्॥

अभिप्राय यह कि तंत्र और स्मृतियों में प्रामाण्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है किन्तु स्मृतियों का अन्तर्भाव कर्मकाण्ड में और तंत्र का ज्ञानकाण्ड में माना जाना चाहिए। जहाँ तक "शारदातिलक" के टीकाकार राघव भट्ट का सम्बन्ध है, उन्होंने भी तंत्रों को स्मृतिशास्त्र के समान मानते हुए उसे वेद के तृतीय काण्ड– उपासना काण्ड के अंन्तर्गत माना है।

इससे स्पष्ट है कि मान्यता का प्रकार भले ही अलग-अलग हो, किन्तु सिद्धान्त रूप से इसकी प्रामाणिकता में सभी पक्षों की सहमति है।

स्वामी करपात्रीजी ने तो पंचमकारों तक के विषय में बड़ी उत्तम उपपत्ति दी है। उनका कहना है "विधान" उसका होता है जो "रागतः प्राप्त नहीं होता। "यदि इनका "विधान" है तो किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के अंग रूप में है, वहाँ "रागतः" प्रवृत्ति नहीं होती।

निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं –

१) आगम और निगम तत्वतः शब्दात्मक बोध रूप हैं, उनकी अवान्तर मान्यताओं और आचारों में भेद ही हो सकता है। जो निगम को सैद्धान्तिक और आगम को व्यावहारिक मानते हैं, वे तो पूरक ही मानते हैं।

२) ऐतिहासिक दृष्टि से भी दोनों धाराओं का परस्पर भेद सिद्ध होता है जो समन्वय की दिशा में भी सम्भव हुआ होगा।

३) आगम को कतिपय आगमिक शिवप्रोक्त अथवा अनादि होने के कारण कभी-कभी स्वतः प्रमाण और कतिपय श्रुति को ही वैदिकी तथा तांत्रिकी बताते हैं। कुछ-एक आचार्यगण आगमों के श्रुति-अनुसारी रूप को स्मृति के समान परतः प्रमाण मानते है और बहुत से वर्णाश्रम धर्म विरोधी आगमों कों स्पष्ट ही वेदबाह्य कहते हैं, वहाँ समन्वय की कोई सम्भावना नहीं देखते।

४) वेद समुन्नतमनस्क संस्कारी साधकों का "व्यक्त" मार्ग है– यजन मार्ग है जबकि आगम राग के स्तर पर जीने वाले संस्कृत-असंस्कृत सामान्य जनों का अधिकार-भेद से निर्दिष्ट गुह्य मार्ग। आगमों में निम्न और उच्च लक्ष्यों के अनुरूप भी आचार निर्दिष्ट हैं। निम्न मार्गी तामसीप्रकृतिक आचार स्पष्टतः वेदबाह्य और समन्वय की भावना से दूर है जबकि उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य "भक्ति" के क्षेत्र में समन्वय की सम्भावना है। वेदों में चाहे कर्मकाण्ड के अंगभूत देव-स्तुति की तह में निहित भक्ति हो अथवा क्रम-मुक्ति के सन्दर्भ में सगुणोपासना के क्षेत्र में, उभयत्र "भक्ति" अंग ही है– अंगी नहीं, पर आगम में इसका "अंगी" रूप में पर्याप्त पल्लवन है। संकेत के रूप में लोग इसे "एकायन" अथवा काण्वशाखा (लुप्त) से जोड़ते हैं। मधुविद्या में उसकी जड़े ढूँढते हैं।

१.५ आगमों मे दिक्काल विमर्श-अभिनवगुप्त सम्मत

वह क्या है जिसके कारण इधर-उधर, दूर-समीप जैसे अनुभव व्यवहार में सर्वसम्मत रूप से किए जाते हैं। इस व्यवहार का आधार क्या है? क्या वे वस्तुएँ जो पहले-पीछे या दूर-समीप जान पड़ती हैं? नही, ये वस्तुएँ स्वयं 'इधर-उधर', आगे-पीछे' या 'दूर-समीप' नहीं हैं बल्कि अपने से अतिरिक्त किसी तत्त्व की अपेक्षा से ऐसी प्रतीत होती हैं। व्यवहार केवल वस्तु प्रतीति से नहीं चल सकता - विपरीत इसके किसी व्यावर्तक वैशिष्ट्य प्रदान करनेवाले तत्त्व की अपेक्षा से ही चलता है। यह

अतिरिक्त है - अनुमेय, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। जिसकी अपेक्षा से हम 'दूर-समीप' का व्यवहार करते हैं- वही देश या दिक् है। ठीक ही कहा है–

दूरान्तिकाधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते

अथवा

केवलवृक्षादि प्रत्यय विलक्षणा पूर्वादि प्रत्ययानुमेया दिक् इति[1]

उसमें व्यवहार्य वस्तुओं की स्थिति के कारण भेद प्रतीत होता है- अन्यथा वह एक और अविभक्त है। इधर-उधर, दूर-समीप–ये विविध व्यवहार व्यवहार्य वस्तुओं को लेकर है –फलतः ये उपाधि हैं-उपहित दिक् तत्त्व सर्वथा पृथक् हैं। आगमसम्मत छत्तीस तत्त्वों में दिक् की परिगणना नहीं है–तथापि उसकी सत्ता आगमिक अनुभवसम्मत मानते हैं। काल नित्यता को विभाजित करता है और देश व्यापकता को। ये देश-काल हैं जिनके कारण व्यापक और नित्य संवित् अव्यापक और अनित्य जैसी सीमाओं में संकुचित हो जाती है। विभु सम्वित् का अणु भावापन्न होना देशगत संकोच हो तो है–जो 'आणवमल' से सम्पन्न होता है। व्यापक की अव्यापकता देश या दिक् को ही लेकर है। इसी आशय से अभिनव गुप्त पादाचार्य ने कहा है–

तस्मात्संवित्प्रकाशोऽयं, मूर्त्याभासन-भागतः।
पूर्वादिदिग्विभागाख्य। वैचित्र्योल्लेख दुर्मदः।

––तन्त्रालोक, १५ वां आह्निक१५.१९६

परासंवित् जब विभिन्न मूर्त आभासों में अपना विस्फार करती है तब पूर्व-पश्चिम आदि जैसा दिग् विभाग (उन आभासों को लेकर) हो जाता है। यह दिक् द्विविध है-शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय दिग् विभाग पर प्रकाशवपु परम शिव में भी निरूपित हुआ है-शास्त्रों में यह उल्लेख मिलता है।

क) परम शिव में दिग् विभाग

'शिवदृष्टि' का प्रणेता सोमानन्द कहता है कि परप्रकाशवपु परमेश्वर जब तल्लय दशा में रहता है - चिदाह्लाद मात्र अनुभवस्वरूप रहता है-विश्वोत्तीर्ण दशा में रहता है तब उसकी इच्छा, उसका ज्ञान और उसकी क्रिया भी अविभक्त और तद् रूप रहते हैं- न वहाँ कोई क्रम है और न विभाग।

---

१. दिक्-दिशति ददाति अवकाशं या सा दिक्।
––अतिसर्जनात्मक (दानात्मक) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर दिक् शब्द निष्पन्न होता है।

स यदास्ते, चिदाह्लादमात्रानुभवताल्लयः।
तदेच्छातावती, तावज्ज्ञानं, तावत् क्रिया हि सा। (शिवदृष्टि)

फिर भी जब वह विश्वात्मक दशा मे अवस्थान्तरित होता है- तब उसमें भी पर-अपर-परापर जैसी दशाएँ उद्भिन्न होती है- आभासित होती है। परदशा प्रकाशमय होने से 'ऊर्ध्वदेशीय', अपर दशा ध्रुवान्त विरोधी होने से अप्रकाशमय अधोदेशीय और परापर मध्यवर्ती दशा प्रकाश-अप्रकाशमय। यहीं से सारी दिशाओं का समुन्मेष होता है। विश्वोत्तीर्ण जब विश्वात्मक दशा में आता है- तब आभासन मात्र निरपेक्ष से सापेक्ष स्थिति में आ जाते हैं। अभिव्यक्ति में वह निरपेक्ष अपने को सापेक्ष (प्रकाश-तम) किये बिना अभिव्यक्त हो ही नहीं सकता।

'विश्वोत्तीर्ण' स्थिति से जब वह परप्रकाश 'विश्वात्मक' भूमिका ग्रहण करता है तब इस अवस्थान्तरण में दो (या तीन) अध्वाएँ होती है – शुद्ध अध्वा, और अशुद्ध अध्वा। पहले अध्वा (मार्ग) में आत्मा में ही 'अनात्म' का आभासन होता है-पर अशुद्ध आध्वा में अनात्म में आत्मबोध 'अख्याति' के कारण होता है। शुद्धाध्वा में निम्नलिखित अवस्थान्तरण होते हैं-

१) किंचित् 'प्रकाश' में (विश्वाभासन के प्रति) औन्मुख की योग्यता उपजने पर विश्व पुरोभाग या प्रमुख भाग की ओर गतिशील होता है–अतः उस देश को 'पुरः अञ्चति' के कारण 'प्राची' संज्ञा मिलती है।

२) सापेक्षता में सब कुछ होने लगता है–फलतः जहाँ 'प्रकाश' मैं किंचित् उन्मुख होने की योग्यता का प्रादुर्भाव होता है- वहीं किञ्चित् अप्रकाश का संस्पर्श भी अवश्यम्भावी है–अतः

विमुखमिव यदा अञ्चति पश्चात् इति च - तब विमुख (पीछे) आभासन के कारण उसे पश्चिम कहा जाता है। अर्थात् औन्मुख्य, वैमुख्य-सापेक्ष है - फलतः जब औन्मुख्य होता है तब 'विश्व' का सम्मुख भाग में 'अञ्चन आभासन होता है और साथ ही किञ्वित् अप्रकाश का संस्पर्श होता है–तब यह आभासन पश्चात् की और हो जाता है। इस प्रकार उसमें दो दिशाएँ स्पष्ट हो जाती है। फिर वही किञ्चित् प्रकाश स्वसंपृष्ट विश्व का विमर्शन करता हुआ प्रकाशमय स्वरूप में अनुकूल भाव से स्थित होता है- तब इसी आनुकूल्य के कारण 'दक्षिण दिक्' का व्यवहार होता है। जहां आनुकूल्य होगा वहाँ 'प्रातिकूल्य' का सद्भाव स्वयं आ जाता है। आशय यह कि वही किञ्चित् अप्रकाश कथंचित् उद्रिक्त होता हुआ तथाविध प्रकाश से समस्कन्ध हो जाता है–फिर उससे आविष्ट होकर मेय (इदम्) को परिस्फुट करता है–फलतः उसकी

प्रधानता हो जाती है-यह प्रकाशांश अप्रधान हो जाता है। 'इदन्ता' के संस्पर्श से आख्यायित यह दशा प्रकाश प्रातिकूल्य का वमन करने लगती है- प्रतिकूल वमन के कारण इस दशा को वामा या उत्तर कह दिया जाता है।

इस प्रकार प्रकाशमय परमशिव में दिग्विभाग हो जाता है। उसी का शास्त्र और लोक में व्यवहार होता है। प्रकाशमय परमशिव ही सम्मुख, पराङ् मुख, उद्रिक्त, अनुद्रिक्त, प्रकाश और अप्रकाश जैसे अंशो से अधिष्ठित होकर अनुरूप दिक् व्यवहार में आता रहता है। इसीलिए कहा गया है–

एवं प्रकाशमात्रेऽस्मिन्, वरदे परमे शिवे।
दिग् विभागः स्थितो लोके, शास्त्रेऽपि च तथोच्यते।

शास्त्रीय दिग्विभाग का विवरण इस प्रकार है-

सिसृक्षा समकाल सामरस्य भंग होता है- शिव और शक्ति का द्विदल आभासित होने लगता है। तदनन्तर जो दशा उन्मीलित होती है- उसे 'सदाशिव' कहा जाता है- यहाँ पर 'अहम्' की प्रधानता और 'इदम्' की ध्यामल और अप्रधान स्थिति रहती है। इसे 'पञ्चमंत्रतनु' भी कहा जाता है-पञ्च मन्त्र हैं- ईशान, तत्पुरूष, अघोर, वामदेव तथा सद्योजात। ईश या ईशान प्रकाशमय होने के कारण 'ऊर्ध्वदिक्' कहा जाता है। 'प्रकाश' आत्मगत 'विश्व' के बहिःप्रसार में जब औन्मुख्य धारण करता है-तब उसकी प्रसरणात्मकता के कारण उसे तत्पुरूष कहते हैं- यह पूर्ण दिक् है। प्रसृत प्रकाश में उद्रेक की अनुकूलता (दाक्षिण्य) होने के कारण 'दक्षिण' का व्यवहार होता है-यह अघोर कहा जाता है। प्रसृत प्रकाश में उद्रेक की प्रतिकूलता के कारण (मेय-इन्दु के संस्पर्श के प्राधान्यवश) वामा या उत्तर दिक् का व्यवहार होता है- यह 'वामदेव' नाम से उल्लपित होता है प्रकाश की विमुखता से पश्चिम दिक् होती है-'प्रकाश' संस्पर्श के योग्य न होने के कारण अधरा दिक् का व्यवहार होता है- यही सद्योजात है। इस प्रकार छह दिग्भाग हो जाता है।

भूतव्याप्ति की दृष्टि से वक्त्र-भेद का विचार किया जाय तो वह इस प्रकार होगा-

१.	प्रकाशमय	ईशानवक्त्र	प्रकाशमयतावश उर्ध्वदिक्	ख
२.	मध्य में	तत्पुरूष	प्रकाश का औन्मुख्य	मरुत्
३.	प्रकाशाप्रकाशमय	अघोर	प्रसृत प्रकाशोद्रेकानुकूल	वह्नि
४.		वामदेव	तत्प्रातिकूल्य	जल
५.		सद्योजात	प्रकाश का वैमुख्य	भू
६.	अप्रकाश	प्रकाश संस्पर्श के	अयोग से अधरादिक्	ख

इसीलिए कहा गया है-

मुख्यत्वेन रवमेवोर्ध्वम् प्रकाशमय उच्यते।
तदैव मुख्यतोऽधस्तादप्रकाशं यतः स्फुटम्।
मध्ये तु यत्प्रकाशं तत्।
न प्रकाशं न चेतरत्।
प्रकाशत्वाद्दिश्यमानमतोऽस्मिन् दिक् चतुष्टयम्।

इस प्रकार यह शास्त्रीय दिग्विभाग हुआ।

लौकिक दिग्विभाग का विवरण इस प्रकार है-

यह विभाग 'ज्ञानमूर्ति रवि' को केन्द्र में रखकर किया जाता है। यह माना जाता है कि सूर्य या तो उत्तरायण होगा या दक्षिणायन-यह 'पूर्व' किस तरह निर्धारित होगा? इसका उत्तर देते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं कि इसका निर्धारण 'विषुवत् रेखा' पर खड़ा होकर देखने से होगा और उसकी छाया जिधर होगी वह पश्चिम दिशा मानी जायगी। जो अन्य भाग में होगी वह दक्षिण और विपरीत भाग में उत्तर। इस तरफ सूर्य जाज्वल्यमान रहता है। यह दिशा चण्ड-तेज की प्रभा से भास्वर रहती है। इसी मन्तव्य को इस प्रकार कहा गया है-

तथाहि विषुवद्योगे यतः पूर्वम् प्रदृश्यते ।
तत्पूर्वम्, यत्र तच्छाया तत् पश्चिममुदाहृतम्॥
तस्मिञ्जिगमिषांरस्य यत्सव्यं तत्तु दक्षिणम्।
तत्रैव चण्डतेजोभिर्भाँति जाज्वल्यमानवत्।
तत्पुरोवर्ति वामं तु तद्‌मासा रवचितं मनाक्॥

इस प्रकार भुवनाध्वा में विषुवत् योग से दिशा निर्धारण होता है। वहाँ जिधर पहले प्रकाश दिखायी पड़ता है-वह पूर्व और जहाँ अस्तगत दिखायी पड़े वह पश्चिम। द्वीपान्तर में जो हमारे लिए पश्चिम है-वह उसके लिए पूर्व हो जायगा। पर इस व्यवस्था में एक बड़ी अड़चन यह होगी कि एक के लिए जो पश्चिम है वही दूसरे के लिए पूर्व। अभिप्राय यह कि इस तरह तो दिशाओं की स्थिति अनियत हो जायगी। दिशाओं की इस अनियत स्थिति में निम्नलिखित विधि का परिणाम क्या होगा?

आयुष्यं प्राङ्मुखां यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रेयः प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते। ऋतं भुङ्क्ते पराङ्मुखः।

अर्थात् पूर्वमुख रहकर भोजन करने वाला आयु-लाभ करता है-दीर्घजीवी होता है-दक्षिण दिशा में मुख कर भोजन करनेवाला यशोभागी होता है- पश्चिमाभिमुखी भोक्ता

श्रेयोलाभ करता है और पराङ्मुखभोजी ऋतोपासक। दिशाओं का अनैत्य होने पर ये विधियाँ कैसे सार्थक होगी।

आगमियों का उत्तर है कि भिन्न-भिन्न द्वीपवासियों के लिए अपने-अपने अनुसार पूर्व-पश्चिम आदि दिशाएँ प्रतिनियत हैं- समष्टि रूप में देखने में उनमें भले ही विपर्यय हो। फल सम्पत्ति का दाता प्रकाशात्मा शिव है और सारी दिशाएँ उसी का स्फार है।

यह आशंका की जा सकती है कि एक बार पूर्वापर दिग्विभाग का कारण पर-प्रकाशमय परमशिव की स्थिति-विशेष को लेकर बताया गया और फिर ज्ञानमूर्ति सूर्य को निर्दिष्ट किया गया- ऐसा उलटफेर क्यों? इस विधान में कोई अड़चन की बात नहीं। बात यह है कि सूर्य को केन्द्र में रखकर किया गया दिग्विभाग द्वीपभेद से प्रतिनियत नहीं है- भिन्न-भिन्न प्रकार का है। एक द्वीप में सूर्य अस्त होता लग रहा है-फलतः द्वीपान्तर में उदित हो रहा है–यद्यपि इससे दिग्विभाग की सार्वभौम एकरूपता नियत नहीं होती- तथापि तह में महेश्वर ही अधिष्ठाता है। वही पर, सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में सब कुछ है–अतः दिग्भेद की अनियत स्थिति की भी तह में वही है–फलतः स्थूलतः सूर्याश्रित दिग्विभाग भी शिवाश्रित ही है। दिग्विभाग के सूर्याश्रित होने पर ही यह आशंका क्यों? दिग्विभाग तो अणुभावापन्न साधक को भी केन्द्र में रखकर सम्भव है। वह भी अपने सम्मुख भाग को पूर्व, पृष्ठभाग को पश्चिम, सव्य को दक्षिण और अपसव्य को वाम मान सकता है। इस विभाजन में भी अन्ततः अधिष्ठाता महेश्वर ही है। दिग्विभाग का अधिष्ठाता महेश्वर ही नहीं, अपितु उसी के शक्तिस्वरूप शक्र आदि लोकपाल वर्ग भी माने गये हैं। व्यवहार में माना ही जाता है कि पूर्व दिशा का अधिष्ठाता इन्द्र है, पश्चिम का वरूण, दक्षिण का यम- इसी प्रकार भिन्न-भिन्न दिशाओं के भिन्न भिन्न अधिष्ठाता हैं। इन सबके अधिष्ठातत्त्व के मूल में परासंविद् ही है। इन देवताओं में परानुग्रहकर्तृता वहीं से आती है। दिशा विभाग के अनैयत्य के बावजूद यह साधक का विश्वास है जो अभीष्ट सम्पन्न करा देता है। जैसे वायु सर्वत्र व्याप्त है- पर आप जहाँ से भी व्यजन चलायेंगे वहीं धूप छँट जायगी और अभीष्ट विश्रान्ति मिल जायगी।

कालविमर्श

१) परतत्त्व का स्त्री रूप 'काली' और पुरुष रूप 'काल' है। निगम आगम-सर्वत्र इस रूप में उसकी चर्चा है। अथर्ववेद के कालसूक्त में परब्रह्म की काल रूप पूजा कही

गयी है- कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमारोहन्ति कव्यो विपश्चित्यत्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वाः॥ (अथर्ववेद, १६/५३/१) इस सूक्त में जगन्मूल काल रूप परमात्मा का स्तवन है।

२) उपनिषदें भी कहती हैं-

कालात्सुवन्ति भूतानि कालाद्वृद्धिं प्रयान्ति च।
काले चास्तं निगच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान्॥ -मैत्री

३) भगवद्गीता में कहा गया है-

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः

अर्थात् तत्त्वतः काल या महाकाल तो परासंविद् ही है- पर एक स्थूल काल या संकुचित काल भी है। शैवदर्शन सम्मत छत्तीस तत्वों में 'काल' एक कंचुक (जीव शक्ति का संकोचक) के रूप में परिगणित है। काल का विचार विभिन्न दर्शनों में अपने-अपने ढंग से हुआ है। आगम भी अपने ढंग से विचार करता है।

'तंत्रालोक', 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' तथा 'चिद्गगन चन्द्रिका' की भूमिका, आदि में काल-तत्त्व पर पर्याप्त विचार उपलब्ध है। 'चिद्गगन चन्द्रिका' जो काली का स्तोत्र-काव्य है-उसकी भूमिका में कहा गया है कि 'काल' शब्द जिस 'कल' धातु से निष्पन्न माना जाता है वह भ्वादि और चुरादिगण में विभिन्न अर्थो में परिगणित है। इस 'कल' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'काल' शब्द निष्पन्न होता है। कल धातु शब्द, संख्यान (भ्वादि) क्षेप, गति तथा संख्यान (चुरादि) -विभिन्न अर्थों में परिगणित पायी जाती है। 'तंत्रसार' में कल धातु के गति, क्षेप, ज्ञान, गणन, भोगीकरण, शब्दन, स्वात्मलयीकरण- अर्थ बताये गये हैं। 'तंत्रालोक' में भी यही सब बातें कही गयी हैं- *क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात्*

१) क्षेप का अर्थ है-क्षेपण, अन्तस्थ का बहि : प्रकटीकरण, बहिरूल्लासन।
२) ज्ञान का अर्थ है विश्व का आत्माभिन्न रूप से अनुभव-बहिः प्रक्षिप्त विश्व का अपने से अभिन्न रूप में बोध।
३) विकल्प (संख्यान) व्यक्त विश्व में पदार्थो की प्रतिनियम रूप से 'यह है, वह नहीं' –प्रतीति ही विकल्प है।
४) गति-स्वरूपारोहण-अपने वास्तविक रूप की उपलब्धि-तमाम भेदों प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय-का अतिक्रमण। गति का आशय है–प्राप्ति-मूल स्वरूप की प्राप्ति जैसा कि प्रतिबिम्ब के ध्वंस (दर्पण के नाशवश) से मात्र बिम्ब शेष रह जाता है। जो 'है' उसी की उपलब्धि होती है, न कि कुछ नये की।

५) नाद-स्वात्म परामर्श शेषता-अर्थात् वास्तविक संवित् की उपलब्धि (सहज बोध से प्राप्त) यह नदन मात्र है। जहाँ सभी प्रकार के व्यावर्तक और वर्गीय ज्ञान प्रकार का विलोप रहता है।

इस प्रकार जिस 'कल' धातु से 'काल' शब्द निष्पन्न हुआ है-उसके ये भिन्न-भिन्न अर्थ हैं।

तत्त्वतः परमतत्त्व ही काल है-पर व्यवहार को देखते हुए उसकी 'काल' नामक एक शक्ति भी माननी पड़ती है। षट्कञ्चुकों में भी 'काल' गणना होती है जो विभु और अद्वय संवित् में नहीं है–वह उसके आभासों में भी नहीं होगा इसीलिए जैसे उसमें 'दिक्' की स्थिति है उसी प्रकार उसमें काल भी शक्ति के रूप में विद्यमान है। इसकी सत्ता का अनुमान 'क्रिया' से होता है। इस दर्शन में 'क्रिया' दो तरह की है-अक्रमा और सक्रमा। क्रिया के कारण ही चेतन में कर्तृत्व का व्यवहार होता हैं। यह कर्तृत्व भी दो प्रकार का है-शुद्ध और मायीय। शुद्ध और स्वतन्त्र कर्ता-परतत्त्व-में क्रियाएँ हैं- पर उनका सातत्य है–एक साथ बिना क्रम के होती है। लीलार्थ आणवतल से आत्मगोपन कर विभु जब अणुभावापन्न जीव बन जाता है-तब इसकी क्रिया में क्रम होता है। यह 'क्रम' जिससे सम्पन्न होता है वही काल-शक्ति है। मायीय कर्ता का अनुभव है–'मैं करता हूँ, मैं करूँगा और मैने किया'–इन अनुभवों में क्रिया या कार्य तो एक ही है-पर उनको अलगानेवाला तत्त्व 'काल' है- उसी से 'कार्य' का व्यवच्छेद होता है- भेद होता है। यह व्यवच्छेदकारी तत्त्व काल है- उसे मानना ही पड़ेगा। हाथ उठाता है, बाद में गिरता है- यह हाथ के उठने और गिरने की क्रिया में पौर्वापर्य क्रम है–क्षणभेद है। पारमेश्वरी काल-शक्ति के कारण हीं लौकिक क्रिया है, क्रम लक्षित होता है। यह घट क्रिया पट क्रिया–जैसी भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होती है ऐसी हीं व्यवच्छिन्न क्रियाओं का कर्ता मायीय प्रपाता है। यही आभासात्मक भाव मात्र को व्यवच्छिन्न रूप में प्रतीत कराता है। यह काल विशिष्ट रूप में (अयतन घटह्यस्तन घट, भावी घट) बोध कराता हुआ सूर्य आदि का संचार ही है- तद्गत क्रम ही है। सक्रम क्रिया ही उसकी अनुमाषिका है। क्रम क्रिया का जीवित है इसीलिए यहाँ कहा गया है– 'क्रम एव कालः, कला एव क्रमः, क्रम ही काल है और काल ही क्रम है। 'काल' की मान्यता से ही 'क्रम' अस्तित्त्व में आता है और 'क्रम' के कारण ही काल की सत्ता प्रतिपादित होती है।

काल के स्वरूप के सन्दर्भ में अन्य शास्त्रों में भी विचार किया गया है। वैशेषिकों ने उसे गुणाश्रयात्मक द्रव्य रूप कहा है, कापिल सांख्य में उसे रजः स्वभाव माना गया है। वैयाकरणों ने नित्य, अनाश्रित, प्रवृत्ति स्वभाव निरूपित किया है। सौगतों ने सन्तन्यमान भावैक परमार्थ बताया है- विचार करने पर ये सब के सब क्रम रूप ही सिद्ध होते हैं- उनका अतिक्रमण नहीं करते। फलतः बाह्यजगत् में अनुभवगोचर काल-क्रम स्वरूप ही स्थिर होता है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा गया है-

कालः सूर्यादिसंचारस्तत्तत् पुष्पादिजन्य वा।
शीतोष्णो वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स सत्त्वतः॥ –ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, २/१/३

अर्थात् इयत्तया परिनिष्ठित आभासों में जो पूर्वापरी भाव लक्षित होता है–वह 'काल शक्ति' के ही कारण है। आभासात्मक भावों में जो पूर्वापरी भाव लक्षित होता है– यह उन भावों का स्वभाव ही क्यों न मान लिया जाय-उसके निमित्त रूप में परमेश्वरगत एक काल नामक शक्ति विशेष की ही परिकल्पना क्यों की जाय? काल को भावमात्र का स्वभाव नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि भाव भिन्न-भिन्न होते हैं-तो उनका स्वभाव मानने पर उसे भी प्रतिभाव भिन्न-भिन्न माना जायगा जो सम्भव नहीं है। यह संवित् की शक्ति ही है जो देशगत और क्रियागत भेद का, पूर्वापरी भाव क्रम का बोध कराती है। अतः मानना पड़ेगा कि यह क्रमावभासिका संवित् की शक्ति है न कि भावमात्र का–आभासमात्र का स्वभाव।

परिशिष्ट क्रमांक १

सृष्टिक्रम

क) शुद्धाध्वा

परमशिव (समरस दशा) बिंदु

अपरिमित अनुभव — द्विदल

(अहमित्याकारबोध) — शिव — शक्ति (तिरोधान स्वरूपा)

अन्तः निमेष -

इदम् के प्रत्यभिस्थापनकी — इच्छा — सदाशिव — (अहमिदम्)

ध्यामल प्रथमाभास - मैं हूँ -

अहन्ताच्छादिता स्फुटता

बहिरून्मेष —— ज्ञान — ईश्वर — इदम्

(अहम् - स्फुटतर - इदम्)

सर्वाकारयोगिता —— क्रिया — शुद्धविद्या —— अह इदम्

(समतुलाधृत

ख) अशुद्धाध्वा (परिमित अनुभव) — विज्ञानकल — आणवमल

अहमंश से पुरुष (२५) कंचुक त्रिगुणात्मिका माया (या माति सा) इदमंश से प्रकृति (२४)

शक्ति क्रमसे माया

कला, काल, विद्या, राग, नियति

२३ महत्तत्त्व – महत्तत्त्व → अहंकार → चित्त, – दश इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्राएँ, पञ्चमहाभूत

षडध्वा

वाचकाध्वा —— वाच्याध्वा

प्रथमाध्वा वर्ण —— कला पाँच

द्वितीया अध्वा पद —— तत्त्व छत्तीस

तृतीय अध्वा मंत्र —— भुवन दो सौ छपन

साधन

शक्तिपात — दीक्षा — साधन या उपाय

अनुपाय शांभव

शाक्त आणव

मल

मायीय — कार्म — आणव

परिशिष्ट क्रमांक २

षडध्वा

परमशिव — निष्कल – विश्वोत्तीर्ण दशा

सकल विश्वात्मक

वर्ण — प्रक्रिया कला सृष्ट्यनुरूप शक्ति का प्राकट्य

अमायीय (असंकुचित) मायीय (संकुचित)

अटूट क्रम (नाद)

नाद का धनीभूतरूप (बिंदु)

मंत्र ——— तत्त्व (३६) सूक्ष्मनिर्मिति का उत्स

उपर्युक्त प्रक्रिया या आधार व्यवस्था

पद ——— भुवन (जगत्) प्रमाता प्रतीति योग्य

मानसिक प्रतिक्रिया और शब्द द्वारा उसका वास्तविक निरूपण

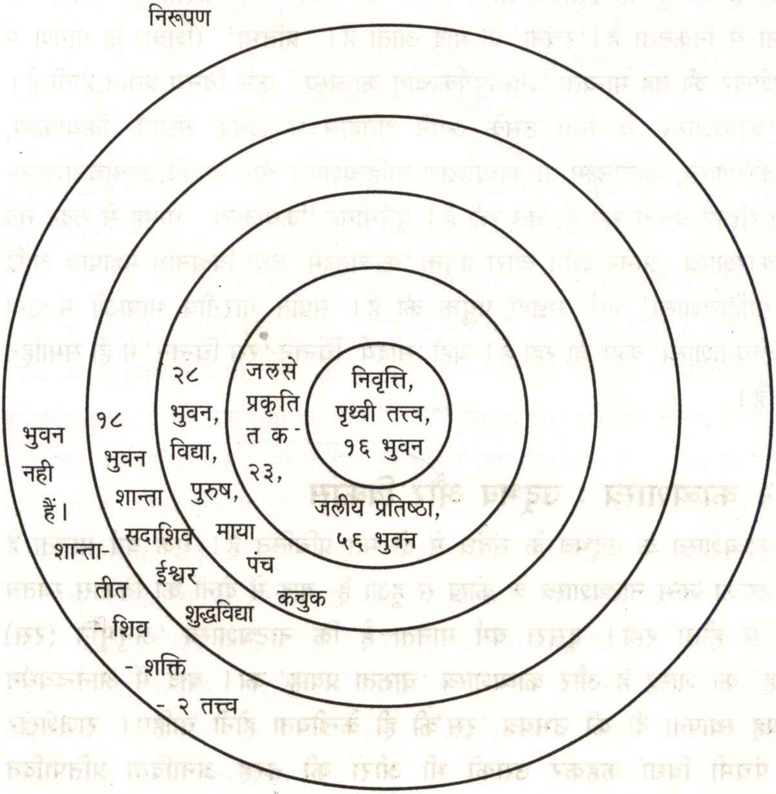

२+३+७+२३+१ = ३६ तत्त्व १८+२८+५६+१६ = भुवन अभिनव के मत से

□□

द्वितीय अध्याय
काव्य-विमर्श

२.१ काव्यशास्त्र : विभिन्न संज्ञाएँ

'काव्यशास्त्र' इसलिए 'शास्त्र' नहीं है कि वह 'शंसन' करता है या 'शासन' करता है अपितु वह इसलिए शास्त्र है कि वह 'अनुशासन' करता है- 'प्रयोग' या रचना से निकलता है। 'रचना' के बाद आता है। 'प्रतिभा' (शिवा) के प्रांगण में राजशेखर की वह मान्यता 'शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यस्य'- कुछ चिन्त्य प्रतीत होती है।

'काव्यशास्त्र' के लिए उसके अपने इतिहास में अनेक संज्ञाएँ- क्रियाकल्प, अलंकारशास्त्र, काव्यलक्ष्म या काव्यलक्षण साहित्यशास्त्र और सम्प्रति आलोचनाशास्त्र- जैसी संज्ञाएँ बनती रही हैं, चल रही हैं। पूर्वभामह 'क्रियाकल्प', भामह से रुद्रट तक अलंकारशास्त्र, आनन्दवर्धन ब्दारा प्रयुक्त 'काव्यलक्ष्म' तथा विश्वनाथ महापात्र आदि ने 'साहित्यशास्त्र' जैसी सज्ञाएँ प्रयुक्त की हैं। संप्रति भारतीय भाषाओं में उन्हें 'आलोचनाशास्त्र' कहा जा रहा है। यहाँ 'सौंदर्य' चिन्तन 'रस चिन्तन' में ही समाहित रहा है।

२.२ काव्यशास्त्र : उद्भव और विकास

काव्यशास्त्र के उद्भव के संबंध में दो मत प्रचिलित हैं। एक वर्ग मानता है कि उसका जन्म नाट्यशास्त्र के कोख से हुआ है- बाद में दोनों का विकास स्वतंत्र रूप से होता रहा। दूसरा वर्ग मानता है कि नाट्यशास्त्र 'अनुभूति (रस) प्रवाह' का शास्त्र है और काव्यशास्त्र 'चारुता प्रवाह' का। बाद में आनन्दवर्धन ने यह स्थापना दी की उभयत्र 'रस'की ही केन्द्रीयता होनी चाहिए। राजशेखर तो पंचमी विद्या कहकर उसकी भी औरों की तरह अनादिता प्रतिपादित करते हैं।

२.३ काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता

आधुनिक रचना संसार के संदर्भ में कतिपय आलोचकम्मन्य 'काव्यशास्त्र' को इतिहास की वस्तु बताकर अनावश्यक और अनुपयोगी घोषित कर रहे हैं। वस्तुतः ये बिना 'पहचाने' ही संग्रह-त्याग की बात कर रहे हैं। ये सर्वथा उपेक्षणीय हैं।

इनका कहना है कि भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में तत्त्वोद्भावनकाल अधिक से अधिक क्षेमेन्द्र तक जाता है। इसका आशय यह होता है कि तब तक की सामन्तवादी परिवेश में रचित रचनाओं के संदर्भ में ही मानदण्ड -काव्य के मानदण्ड- उनसे निकाले गए। परवर्ती चिन्तनकाल केवल Scholastic Age या 'पाण्डित्ययुग' था। पूर्वोद्भावित मानदण्डों का सूक्ष्म-सूक्ष्मतर विवेचन था। यह विवेचन क्रम भी पण्डितराज तक आते-आते मंद प्रभ होता गया।

वर्तमान परिवेश रचनात्मक जनतंत्र का है। आज काव्य में इसी परिवेश का जनजीवन प्रतिफलित होगा- फलतः जहाँ प्राचीन काव्य में पात्र उच्चवर्ग से ही लिए जाते थे और एक उपदेशपर्यवसायी उद्देश्य से उनका चित्रण होता था- आज काव्य के वे विषय नहीं रह गए हैं। आज काव्य का विषय सामान्य जन और सामान्य जनजीवन है। आज का रचनाकार काव्यमें बिंब विधायिनी कल्पना का ही अवलंब लेता है-और ग्रहण भी उसी तरह का हो रहा है-अतः मानदण्ड भी सर्वथा संश्लिष्ट बिंबपरक हैं। आज रचना जीवन की आलोचना और आलोचना रचना की पुनःरचना मानी जा रही है। आज रचना और ग्रहण-दोनों स्तरों पर विसर्जनोन्मुखी भावना को काव्य से अपहस्तित किया जा रहा है और उसकी जगह उभयत्र आत्मसजगता या बौद्धिक तटस्थता को अपनाया जा रहा है- तभी काव्य द्वारा संप्रेषित अनुभूतसत्य का वस्तुनिष्ठ पध्दति पर ग्रहण संभव है। इस प्रकार आधुनिक चिन्तक अतीत से अपना संबंध रचना, रचनाप्रक्रिया और ग्रहण-सभी स्तरों पर विच्छिन्न कर रहे हैं? वे कहते हैं कि उन्नति का ध्वनि सिद्धान्त सर्व समावेशी है-जिस का मर्म 'रस' ध्वनि है। अब यह 'रस' हमेशा से भी हटाया जा रहा है - शब्दशक्तियाँ अपने क्रमागत ढाँचे में जकड़ी जाकर निरर्थक सिद्ध हो रही हैं। समस्त भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिंबार्थविधान' और उसके प्रतिमानीकृत रूप की कहीं चर्चा नहीं है। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि क्रमागत प्राचीन काव्यशास्त्र वर्तमान संदर्भ में अप्रासंगिक हो गया है। फलतः संप्रति उसकी चर्चा उसका शव ढोना है।

ये तथाकथित आधुनिकतावादी व्यापक और गहन काव्यशास्त्र का मंथन किए बिना ही, पूरी पहचान के बिना ही फतवे बाजी कर रहे हैं। भारतीय काव्यशास्त्र एक समृद्ध जीवन दर्शन पर आधारित जीवन का प्रतिबिंब है-प्रतिफलन है और वह जीवनदर्शन आज भी अपनी अपरिमेय संभावनाओं से मण्डित है। पदार्थवादी उसे नकार सकता है क्योंकि वह अधिनायकवादी है-जनतंत्रवादी नहीं। रहे गैर मार्क्सवादी आधुनिकम्मन्य आलोचक-उन्हें यही पता नही किं भारतीय काव्यशास्त्र में क्या है और क्या नहीं है। इस अज्ञान के कारण अनेक उपादेय तत्वों की विद्यमानसत्ता को ही अस्वीकार कर देते हैं। उन्हें शब्दशक्ति की परिधि की ही जानकारी नहीं है। वे प्रतिभागृहीत और प्रतिभानिर्मित 'बिंब' का काव्यशास्त्र में अस्तित्व ही नहीं देखते। अंधे को सूर्य ही नहीं दिखाई दे-तो इसमें सूर्य का क्या दोष है? क्या काव्य से 'सौंदर्य' और स्रोत 'आनन्द' को अपहस्तित किया जा सकता है। क्या सर्जनामें अहंता का विर्सजन उपादेय नहीं है? क्या शब्दार्थमय काव्य से उक्तिभंगिमा (अलंकार) और विशिष्ट पदसंघटना (रीति) समाप्त हो गई या हो जायेगी? क्या विदग्ध की बोद्धव्य से विशिष्ट पहचान करानेवाली व्यंजना शक्ति अब निरर्थक हो गई? क्या अब प्रतिभा वर्ण्य के असाधारण स्वभाव (वक्रता) का उद्रेवण नहीं करेगी? भारतीय काव्यशास्त्र के वे ही तो मानदण्ड हैं। क्या काव्यसामग्री से सामाजिक औचित्य निरस्त कर दिया जायेगा? क्या काव्य में अंगांगी मान से संयोजन या शिल्प में संतुलन की अब अपेक्षा नहीं होगीं? यही भारतीय काव्यशास्त्र और आलोचना है, जिसे ये लोग अप्रासंगिक कह रहे हैं।

२.४ काव्यस्वरूप, प्रयोजन हेतु तथा प्रभेद

साहित्य शब्द का प्रयोग वाङ्मय, काव्य और काव्यशास्त्र तीनों अर्थों से प्रचलित है। कवि-कर्म है- 'वर्णना'और 'वर्णना काव्यसमुच्यते' अर्थात् वर्णना ही काव्य है-जो 'दर्शना' पूर्वक सम्पन्न होती है। साहित्य शब्दार्थ का अव्यक्तिगत 'वासना' केंद्रित सहभाव है- ऐसा सहभाव जो परस्पर प्रतिस्पर्धी है। राजशेखर के शब्दों में यही '*शब्दार्थयोः यथावत् सहभावः*' है। आनन्दवर्धन ने अपनी कवि-कर्म संबंधी आवधारणा को व्यक्त करते हुए कहा है-"*येषां हि सुकवीनां प्राक्तनपुण्यपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषांपरोपरचितार्थपरिग्रहणनिः स्पृहाणां स्वव्यापारः कर्तुं न युज्यते। भगवती सरस्वती स्वयमेवाभिमतमर्थमाविर्भावयति। एतदेव कवित्वं महाकवीनाम्* ।" अर्थात्

जिन सुकवियों की प्राक्तन पुण्यपरिपाक वश काव्यकरण का संकल्प उदित होता है-वे न तो परोपरचित अर्थ को ग्रहण करते हैं और न ही स्वयम् करने का दंभ भरते हैं-वे तो प्रतिमामिधान परवाग्देवता के प्रति सर्वात्मना विसर्जित हो जाते हैं-फलतः प्रतिभा शिवा सक्रिय हो जाती है और अभिमत अर्थ का उद्भावन करने लगती है। यही अहंता का विसर्जन विशिष्ट सर्जन का निमित्त बन जाता है। आगमज्ञ काव्यात्मक सर्जन का यही स्वरूप मानते हैं। पार्वती-परमेश्वर की तरह सम्पृक्त शब्दार्थ का चारुता केन्द्रित समप्रधान सहभाव ही साहित्य है। शब्दार्थ में अर्थप्रधान सहभाव पुराण है, शब्दप्रधान सहभाव वेद है और समकक्ष उभयप्रधान सहभाव काव्य है। वस्तुतः कश्मीरी आगमज्ञ आचार्य चाहे अभिनव और आनन्दवर्धन हों या कुन्तक-सभी एक मत से शब्दार्थ सहभाव में 'व्यापार का प्राधान्य' मानते हैं। कुन्तक ने तो स्पष्ट कहा है '*वक्रत्वं कविव्यापारः*' यह व्यापार 'प्रतिभान' है।

काव्यप्रयोजन

'*प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते*'-फिर कवि निष्प्रयोजन संकल्प क्यों लेगा, 'वर्णना' प्रवण क्यों होगा? यों काव्य 'अभिव्यक्ति' है या 'संप्रेषण'- इन विकल्पों को अन्ततः ज्ञात या अज्ञात भाव से 'समन्वित' ही मानना पड़ेगा। अभिव्यक्ति हो जाती है और 'सम्प्रेषण' किया जाता है- एक आवेश में अनायास हो जाता है, दूसरा सायास किया जाता है। आगमज्ञ आचार्य आभिनवगुप्त कहते हैं-

"*अकृतकतयावेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां। (शोक): गतः*" कविहृदयगत साधारणीभूतसंवित् ही रस है- वही बीजस्थानीय है- वही समुच्छल होकर आवेश में काव्याकार अभिव्यक्त हो जाता है।

प्रयोजन का विचार इन आगमज्ञों ने निर्माण और ग्रहण - दोनों दृष्टियों से किया है। निर्माण की दृष्टि से यश, अर्थप्राप्ति तथा शिवेतरक्षति काव्य का प्रयोजन है परन्तु ग्रहण की दृष्टि से ग्राहक का प्रयोजन है- व्यवहारोपयोगी ज्ञान, कान्तासम्मित उपदेश तथा सद्यः परनिर्वृत्ति'। व्यवहारोपयोगीज्ञान तथा उपदेश एकतरह से 'व्युत्पत्ति' लाभ ही है और 'सद्यः परनिर्वृति' प्रीति या लोकेत्तर आह्लाद ही है। कुल मिलाकर प्रीति और व्युत्पत्ति ही ग्रहण की दृष्टि से दो प्रयोजन ठहरते हैं। आगमज्ञ अभिनवगुप्त का पक्ष है कि इन दोनों में काव्यप्रयोजन मुख्यतः 'प्रीति' या 'परनिर्वृति' ही है- जो तत्त्वतः 'संविद्विश्रान्ति' है- 'पूर्णतापरामर्श' है- साधारणीकृत भाव की भूमि पर संवित् की विश्रान्ति है। इसी भूमि से निर्गत काव्यपक्ष का वही सरस फल है।

काव्यहेतु

'वर्णना' स्वरूप कवि-कर्म के हेतु पर विचार करनेवाले आचार्य दो वर्गों में विभक्त हैं- एक वे हैं जो 'उत्कृष्ट' कोटि के काव्य के हेतु पर विचार करते हैं। दूसरे वे हैं जो 'सामान्य' काव्य की कारणता पर प्रकाश विकीर्ण करते हैं। पहले चक्रचीवरादिन्याय से समुदितकारणतावादी हैं और दूसरे 'तृणारणिमणिन्याय' से व्यस्त कारणतावादी हैं। समुदितकारणतावादी शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास-तीनों की सम्मिलित स्थिति मानते हैं और दूसरे मानते हैं कि काव्य केवल 'शक्ति' से भी बन सकता है और केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास भी बन सकता है। 'शक्ति' काव्यानुकूलसंस्कारविशेष है। व्युत्पत्ति अर्जित ज्ञान या तत्प्रसूत विवेक है और अभ्यास गुरु के निर्देश या देखरेख में किया जानेवाला पुनःपुनः प्रवृत्ति स्वरूप अभ्यास है।

प्राचीन चिन्तक हेतु या करण को 'व्यापार' द्वारा कार्यसंपादक या करण मानते हैं और नव्यचिन्तक अव्यवहित कारण को यानी व्यापार ही को-व्यापारस्थानीय 'प्रतिभा' को ही कारण मानते हैं। करणव्युत्पत्ति से प्रतिभा का अर्थ (प्रतिभासतेऽनया) शक्ति है और भावव्युत्पत्ति से 'काव्यानुकूलशब्दार्थोपस्थिति' या 'विस्फुरण''। (flash - दीप्ति) 'प्रतिभा'में 'प्रति' उपसर्ग 'भा' धातु और (क्विप्) प्रत्यय है। प्रतिभा के तीन रूप कहे गए हैं- निर्मलचित्तकी वृत्ति या 'प्रज्ञा' आर्ष या दिव्यचक्षु, दूसरे निरावण चित् (जैन) और आगमज्ञों की दृष्टि से साक्षात् चिन्मयी शिवा। इसीलिए वे कहते हैं-शिवा ही प्रतिभा है।

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्रमात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वंदे तां प्रतिभां शिवाम्॥

काव्यप्रभेद

काव्यशास्त्र में 'भाषा', ' शैली', 'इन्द्रियमाध्यम और विधा के आधार पर तो काव्य के भेद-प्रभेद किए ही गए हैं-आगमानुयायी ध्वनि प्रस्थान में 'अर्थ' के अनुशीलन से प्रतीत होने वाले 'चमत्कार' के आधार पर-तद्गत तारतम्य के आधार पर - भी प्रभेद विस्तार से विचार किया गया है। यह अर्थ है- प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ। आनन्द वर्धन का तो पक्ष है कि 'चारुता' या 'चमत्कार' वहीं है जहाँ काव्य से 'प्रतीयमान' अर्थ आता है। उसकी विस्मयावह प्रतीति के फलस्वरूप जो लोकोत्तर

चारुता या रमणीयता अनुभवगोचर होती है-उसीके अनुकरण में 'चमत्' शब्द का प्रयोग किया गया है- 'कार' प्रत्यय लगकर 'चमत्कार' शब्द बना है। आनन्दवर्धन का कहना है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

महाकवियों की वाणी में 'प्रतीयमान' वस्तु कुछ और ही होती है, जो काव्यके प्रसिद्ध अंगों से अतिरिक्त अंगनाके अंगपर छहरती हुई 'लावण्य' की तरह लगती है। दोषभावगुणालंकारमण्डित शरीर का यह लावण्यकल्प 'प्रतीयमान'अर्थ आत्मभूत रसमय अर्थ या तो प्रधान या सर्वातिशायी होकर काव्य का 'उत्तम' (ध्वनिकाव्य) रूप कहा जायगा अथवा यदि वह मान्य अर्थकी अपेक्षा 'गौण' हुआ तो मध्यम (गुणीभूतव्यंग) काव्य कहा गया। 'रसमयप्रतीयमान' हीन काव्य तो निष्प्राण होने के कारण 'काव्यचित्र' है न कि 'चित्र-काव्य'। आगे चलकार 'व्यक्तिविवेक' कार ने एक, प्रकाशकार ने 'तीन' दर्पणकार ने 'दो' तथा पण्डितराज ने 'चार' भेदों की कल्पना की। पण्डितराज जगन्नाथने तो घोषणा ही कर दी- '*न ह्येवंविधः कश्चिदप्यर्थः योऽनामृष्ट-प्रतीयमानः स्वतश्चमत्कारमाधातुं प्रभवति।*' वैसे कवि की 'प्रतिभा' (स्वातंत्र्यात्मा) कोई नियम नहीं जानती- वह कहीं और किसी भी स्तर के कार्य से चमत्कार पैदा कर सकती है।

२.५ 'सहृदय' शब्द को अभिनवगुप्त द्वारा दी गई नई अर्थदीप्ति

अभिनवगुप्त कश्मीर की अद्वयवादी शैवागम परम्परा के आचार्य हैं। साहित्य-चिन्तन को 'दर्शन' की कोटि तक पहुँचाने का श्रेय जिन कश्मीरी आचार्यों को दिया जाता है, अभिनव उनमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साहित्य के विभिन्न विवेच्य पक्षों और उस सन्दर्भ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों को अपने तंत्रवादी दर्शन के आलोक में इन्होंने अद्भुत अर्थच्छाया प्रदान की है। व्युत्पत्ति अथवा परम्परा के माध्यम से एक विशिष्ट दार्शनिक पीठिका पर शब्द की अन्तरात्मा का तत्तत् शास्त्रोपयोगी इतना अद्भुत व्याख्यान प्रायः अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। 'चमत्कार', 'सहृदयता', 'रस', 'प्रतिभा', 'आनन्द' आदि न जाने ऐसे कितने शब्द है, जो इनकी लेखनी और उद्भावना-शक्ति का संस्पर्श पाकर समग्रता में खिल उठे हैं और जिस

सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं, उसे अपूर्व आभा से मण्डित कर गये हैं। इस निबन्ध में मैं केवल 'सहृदय' शब्द की उनके द्वारा उद्घाटित अन्तरात्मा का स्वारस्य स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा।

काव्यचिंतन के सन्दर्भ में 'सर्जक' को तो सहृदय कहा ही गया है- यहाँ विशेषतः बल 'ग्राहक' पक्षीय 'सहृदय' शब्द ही विवेच्य है। जहाँ तक इस 'शब्द' का सम्बन्ध है– सम्भवतः 'अथर्ववेद'[१] में इसका पहला प्रयोग मिलता है और इसका मिलना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरतमुनि ने 'रस' को अथर्ववेद से ही लिया है।[२] आयुर्वेद उसका उपवेद है और वहाँ भी अपने ढंग से 'रस', 'भाव'[३] का विवेचन है। भवभूति जब राम के करुण रस को 'पुटपाकप्रतीकाश'[४] कहते हैं, तब आयुर्वेद का ही सहारा लेते हैं और जब क्षेमेन्द्र 'औचित्यरस-सिध्दस्य'[५] की बात करते हैं, तब रसायनतंत्र तक का सन्दर्भ झंकृत कर देते हैं। अस्तु, मुझे यहाँ कहना यह है कि अथर्ववेद में प्रयुक्त 'सहृदय' शब्द विशेष महत्त्व रखता है। वहाँ पर 'सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमि वः' पंक्ति प्रयुक्त मिलती है। इस पंक्ति में 'सहृदय' का अर्थ 'समानहृदय' ही है। संरचना की दृष्टि से यह एक सामासिक शब्द है जहाँ 'समान' तथा 'हृदय' दो शब्दों या पदों का समसन है। समान की जगह छांदस 'स' का आदेश है।[६] अभिप्राय यह कि 'सहृदय' शब्द का सामान्य अर्थ होगा–समान हृदय वाला। काव्यास्वाद के सन्दर्भ में नायक, कवि तथा श्रोता अनुभव-साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले या 'सहृदय' कहे जाते हैं। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने कहा ही है–'*नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः*'।[७] नाट्यशास्त्र में सहृदय की जगह "सुमनस् प्रेक्षक"[८] का प्रयोग मिलता है और उसी नाट्यशास्त्र में 'प्रेक्षक' की स्वरूपगत विशेषताओं पर पर्याप्त विस्तार से प्रकाश डाला गया है। भरत से लेकर भामह, दण्डी, वामन तथा उद्भट तक में 'सहृदय' शब्द के समानार्थक अन्य शब्द भले ही उपलब्ध हो,[९] पर 'सहृदय' शब्द का साभिप्राय और प्रचुर प्रयोग आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यावलोक'[१०] से मिलने लगता है। इसमें 'सहृदय' का पर्याप्त सांकेतिक तथा स्पष्ट व्याख्यान मिलता है। इनके वैचारिक आकाश की गहन नीलिमा का भेद पाने में अभिनव का 'लोचन' भी कहीं-कहीं स्तब्ध[११] रह जाता है। वैसे आनन्दवर्द्धन ने 'सहृदयता' को 'रसज्ञता'[१२] का पर्याय माना है।

इस पीठिका पर अभिनवगुप्तपाद का उदय होता है और ये भरत मुनि के नाट्यशास्त्र, आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' का अवलंब लेकर तंत्रवाद के आलोक में

'सहृदय' की अत्यन्त मार्मिक व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' में तो मिलती ही है, उनके अन्य ग्रंथों में भी उपलब्ध है– जैसे 'तंत्रालोक', परात्रिंशिका तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' आदि। इन कृतियों में प्राप्त विवेचनों के साक्ष्यपर 'सहृदय' का स्वरूप, सहृदयता के उन्मेष के निमित्त तथा प्रयोजन पर प्रकाश पड़ता है।

जहाँ तक 'सहृदय' या उसके लिए अपेक्षित 'सहृदयता' के स्वरूप का संबंध है, उसे स्पष्ट करने में अभिनव ने इन शब्दों की रूढ़ि तथा योग–दोनों प्रकार की शक्तियों का सहारा लिया है, साथ ही चिति, चेत्य तथा चित्त– तीनों कोणों से प्रकाश डाला है। सहृदयता की स्वरूपगत विशेषताओं को बताते हुए उन्होंने तीन वक्तव्य दिये हैं।– १) स्वहृदयसंवादभाजकता'[१३] २) वर्णनीय तन्मयी-भवनयोग्यता[१४] तथा ३) तादात्म्यसमापत्तियोग्यता।[१५] पहले का सम्बन्ध चिति पक्ष से, दूसरे का चेत्य पक्ष से तथा तीसरे का चित्त पक्ष से है। पहले उद्धरण में अवयव शक्ति की सहायता से आशय स्पष्ट किया गया है, जबकि दूसरे और तीसरे उद्धरण में रूढि शक्ति कार्य कर रही है। 'स्वहृदयसंवादभाजकता' के विग्रह-भेद से दो आशय हो सकते हैं–सहृदय वह जिसका हृदय संवाद में प्रमाण हो[१६] (*स्वस्य हृदयं संवादः संवादकप्रमाणकं तद्‌भजति*) अथवा सहृदय वह जो अपनी संवादशालिता के कारण कविहृदय को आत्मसात् कर ले (*स्वस्मिन् हृदये कविहृदय संवादकत्वेन भजति*)।[१७] स्पष्ट ही इसमें सहृदय चेतना पर बल है। दूसरी ओर जब वे 'वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता' के रूप में चेतना पर बल है। दूसरी और जब वे 'वर्णनीय तन्मयोभवनयोग्यता' के रूप में सहृदयता की पहचान कराते हैं, तब स्पष्ट ही वर्णनीय या चेत्य सामग्री पर बल देते हैं। चेत्य चिति का ही रूपान्तरण है। तीसरी और जब वे 'तादात्म्य-समापत्तियोग्यता' की बात करते हैं, तब दो चित्तों (कवि-चित्त, सहृदय-चित्त) के तादात्म्य को रेखांकित करते हैं– कवि की चित्तदशा और सहृदय की चित्तदशा का अन्तर मिट जाता है–दोनों की अनुभूति एकरस हो जाती है। चिति ही इस मत के अनुसार चेतन पद से अवरोहण कर संकोचमय चित्त बन जाती है। निष्कर्ष यह कि सहृदयता हृदय की एक 'योग्यता' और 'उत्कर्ष' का नामांतर है। यों तो हृदय का साहित्य सभी को प्राप्त है, पर विशेष प्रकार की योग्यता या उत्कर्ष से युक्त 'हृदय' का साहित्य कुछ और ही है जिसके बल से चित्त की संकोचक परिधि टूट जाती है, स्व-पर भाव विगलित हो जाता है, दूसरे – की अनुभूति अपनी हो जाती है और वह भी उत्कृष्ट या लोकोत्तर

आनन्दमय। इस दर्शन के अनुसार यह चित्तगत संकोच ही है– दृष्टिगत दोष ही है जो 'चिति-रूप आनन्दमय चेत्य की अन्यथा प्रतीति करा देता है– काव्य के लोकोत्तर प्रभाववश यह संकोचात्मक दोष कुछ काल के लिए दब जाता है और दोषजन्य विक्षेप शांत हो जाता है, विश्रान्ति हो जाती है, साधारणीकृतभाव की भूमि पर आत्म-परामर्श होने लगता है और यही आत्म-परामर्श आनन्द या चमत्कार है। सहृदयतावश ही यह सब सम्भव है।

हृदय की यह योग्यता एक-दो दिन में नहीं आती-तदर्थ अभ्यास[१८] (काव्यानुशीलनात्मक अभ्यास) अपेक्षित होता है। अभ्यास के लिए कालगत दैर्घ्य भी अपेक्षित है और नैरन्तर्य[१९] भी। बहुत समय तक और निरन्तर काव्यानुशीलन चलता रहे, तब ग्राहक के हृदय में वह योग्यता उद्रिक्त होती है जिसे सहृदयता कहते हैं। अभिनवगुप्त मानते हैं कि केवल तथाविध अभ्यास ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए 'प्राक्तन पुण्य का परिपाक'[२०] भी अपेक्षित है। कारण, पुण्य की जगह यदि पापात्मक दोष की प्रचुरता हो तो वह हटता नहीं और उसके न हटने से बराबर विक्षेप बना रहेगा और विक्षेप आत्मविश्रान्ति के अभाव में आत्मपरामर्श नहीं होने देगा। इसीलिए अभिनवगुप्त ने कहा है कि तथाविध योग्यता की उपलब्धि के लिए तीसरा कारण है –हृदयगत नैर्मल्य[२१], अर्थात् सहृदय को समुन्नतमनस्क होना चाहिए। नाट्य-परिवेश और गीत, वाद्य, गणिका आदि नाट्यसामग्री उन्ही लोगों के हृदय को निर्मल रखती है जो प्रकृत्या समुन्नतमनस्क हैं, जिनका राग ऊर्ध्वगामी है, देह की आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठा हुआ है, अर्थात् जो निर्व्यसन है। जो लोग 'अ-हृदय' अर्थात् तथाविध योग्यता से शून्य हैं, उनमें यही सामग्री व्यसनिता[२२] पैदा करती है–- वे लोग निम्नगामी राग की रस्सी से छूट नहीं पाते। इस सहृदयता के लिए चौथी चीज अपेक्षित है–सुकुमारता[२३]। इसे स्पष्ट करते हुए अभिनव ने एक उदाहरण दिया, कहा कि जैसे कोई सुकुमार-चेता रमणी किसी व्यक्ति को कँकरीले पथ पर चलते देखकर सिहर-सिहर उठती है–लगता है जैसे उसकी सारी चेतना उसी व्यक्ति में प्रविष्ट हो गई है, वैसी ही स्थिति सहृदय प्रेक्षक की होनी चाहिए। वह अनुभूतिगोचर पात्र के सुख-दुख का साथ-साथ निर्मल मनोभूमिका पर साक्षात्कार करता चले।

सहृदयता के उन्मेष के लिए 'प्राक्तनपुण्यपरिपाक', 'अभ्यास', नैर्मल्य या 'सुकुमारता' के साथ-साथ 'विमलप्रतिभानशालिता' भी अपेक्षित है। यह 'प्रतिभान' शक्ति अभिनव

की दृष्टि से स्वात्मायतन विश्रांत शिवा का ही दूसरा नाम है, जिसके उन्मीलन से सृज्यमान का उन्मीलन और जिसके निमीलन से सृष्टि का निमीलन हो जाता है। काव्यसृष्टि के स्तर पर ग्राहक में यह दृष्टि उन्मीलित[२४] रहती है–यह प्रतिभान सक्रिय रहता है। अभिनव ने वर्णनीय वस्तुगत नूतनोल्लेखशालिनी शक्ति को ही प्रतिभान[२५] कहा है। प्रतिभान या प्रतिभा दोनों एक ही हैं। इसमें है 'प्रति' उपसर्ग और दीप्ति अर्थवाली 'भा' धातु। इसमें 'क्विप्' प्रत्यय 'भाव' और 'करण' दोनों अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है–चाहे 'प्रतिभानं प्रतिभा' कहें या '*प्रतिभायतेऽनयेति प्रतिभा*' कहें–दोनों 'प्रतिभा' है। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतिभान स्फुरण क्रिया है और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार वह साधन प्रतिभा है जिससे स्फुरण सम्पन्न होता है। इन दोनों व्युत्पत्तियों में मान्यता भाव-व्युत्पत्ति को अधिक मिली है।[२६] साहित्यशास्त्रियों में इसी पर दो वर्ग बन गये हैं– संस्कारवादी और स्फुरणवादी। कुछ लोग करण के अर्थ में शक्ति को प्रतिभा का पर्याय मानते हैं और कुछ स्फुरण व्यापार को। नव्यचिंतक दूसरे पक्ष के हैं। कविराज गोपीनाथ [२७] भी कहते हैं कि– "The word Pratibhā which literally means a flash of light, a revelation." अभिनव ने कवि और शिव दोनों को 'अपूर्वार्थ-निर्माणशाली' [२८] कहा है। शक्ति की जो स्थिति शिव के साथ है, वही प्रतिभा की कवि के साथ[२९] भी। महिमभट्ट ने कहा है कि रसानुरूप शब्दार्थ की चिन्ता में एकतानचेता कवि की वह प्रज्ञा ही प्रतिभा है जो स्वरूपस्पर्शपूर्वक सक्रिय है। यह कवि या शिव की तीसरी आँख है, जिससे त्रिलोकवर्ती भावजगत् का वह –– साक्षात्कार कर लेती है[३०] और इस प्रक्रिया में साक्षात्कृत वस्तु में 'कुछ और ही रंग उभर आता है। इस आवेश में दृष्टपूर्व अर्थ भी अपूर्व लगने लगता है। इसीलिए अभिनव कहते हैं कि सहृदय अपनी प्रतिभाशक्ति से काव्यार्थ को, लगता है जैसे, प्रत्यक्ष आँख से देख रहा हो। प्रत्यक्षायमाण काव्यार्थ ही भाव को स्पंदित करते हैं। निष्कर्ष यह है कि 'विमलप्रतिभानशालिता' भी 'वर्णनीय-तन्मयीभवन' के लिए अपेक्षित है। तन्मयीभवन की योग्यता इस प्रतिभान शक्ति की भी अपेक्षा करती है।

तन्मयीभवन की योग्यता ही सहृदयता है, पर यह तन्मयीभवन क्या है? पण्डितराज जगन्नाथ ने एक जगह कहा है कि जिस प्रकार समाधि में योगी को स्वरूपानन्दाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार ग्राहक को भी सहृदयतावश होने वाली विभावादि की चर्वणावश तत्तत् स्थायी से उपहित स्वरूपानन्दाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न

होती है।[३१] पण्डितराज के अनुसार 'तन्मयीभवन' की व्याप्ति यहाँ तक है। पर पण्डितराज के तन्मयीभवन की दार्शनिक पीठिका से अभिनव के तन्मयीभवन की दार्शनिक पीठिका भिन्न है। पण्डितराज शांकर अद्वैत वेदान्त के अनुसार तन्मयीभवन की व्याख्या करते हैं। अभिनवगुप्त अद्वयवादी शैवागम के आलोक में 'तन्मयीभवन' को लेते हैं। शांकर वेदान्त के अनुसार वर्णनीय विषय का आकार चित्त ग्रहण करता है– यही चित्त की विषयाकार वृत्ति है। इस वृत्ति से 'विषय' और चेतन 'प्रकाशक' के बीच जो आवरण पड़ा रहता है, उसका भंग[३२] हो जाता है,फलतः विषय का बोध हो जाता है। यहाँ चित्त चेतन से सर्वथा भिन्न वस्तु है। शैवागम के अनुसार चित्त ही मायाकंचुक से संकुचित होकर चित्त बन जाता है, चित्त ही चेत्य विषय बन जाता है। इनके अनुसार प्रमाता जब किसी विषय को देखता है, तब मायावश जो भावरूप विषय[३३] है,वह प्रमाता के प्रति स्वरूप के रूप में ही प्रकाशित होता है—प्रमाता का ही स्वरूप-विकास हो जाता हैऔर रूपान्तरित चेत्य या विषय को वह आत्मसात् कर लेता है– प्रमाता पहले की अपेक्षा व्यापक हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शांकर वेदान्त में चित्त विषयाकार परिणत होता है, जबकि शैवागम के अनुसार विषय ही चिदाकार हो जाता है। विषय की यही चिदाकारता ही प्रकाशता है–प्रकाशित होना है। फलतः यहाँ तन्मयीभवन विषय की ही चिदाकार परिणति है। कहा गया है—

तस्या भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एव यः।
स एव भोगः सा मुक्तिः तदेव परमं पदम्॥[३४]

स्वतन्त्र चिन्मयी शक्ति की भोग्य विषय से एकाकारता ही भोग है– आस्वाद या तन्मयीभवन है। यह प्रमातृ-चेतना का विस्तार है।

'सहृदय' शब्द में 'समानहृदयता' तो देखी ही गयी, 'हृदयसाहित्य' भी देखा गया। दो हृदयों के एकीकरण अथवा इस एकीकरण के लिए अपेक्षित हृदयगत उत्कर्ष, दोनों अर्थों में अभी तक 'सहृदय' शब्द की अर्थव्याप्ति पर तन्त्रवाद के आलोक में विचार किया गया। सम्प्रति 'हृदय' का आगम-सम्मत अर्थ लेकर एक तीसरी सम्भावना का भी द्वार अभिनव ने खोला है। यहाँ हृदय का अर्थ 'उत्कृष्ट हृदय' नहीं लिया गया 'हृदय' ही लिया गया। अभिनव के दर्शन में 'हृदय' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है।

वे मानते हैं कि चरम सत्ता समरस है–प्रकाश या बोध और विमर्श या स्वातंत्र्य उसके दो पक्ष हैं। यह विमर्श या प्रकाशमानता प्रकाश का स्वभाव है जो संकोचप्रसारात्मक

है। जिस प्रकार वड़वा विसर्ग क्रिया में वरांग का संकोच-प्रसार करती है, वही स्थिति या दृष्टांत यहाँ भी समझें। यह संकोच प्रकाशात्मिका विमर्श या आत्मपरामर्शकारिणी शक्ति ही आनन्द है।[३५] भट्टनायक ने ठीक ही कहा है कि परब्रह्म तो नपुंसक है। यदि उसकी क्रियाशक्ति न होती तो वह निर्गुण और निष्फल ही रह जाता।[३६] निष्कर्ष यह कि यह शक्ति ही स्वरूप-परामर्श (पूर्णताबोध) करती हुई आनन्द-बोध कही जाती है। स्वरूप-परामर्श ही आनन्द है–आत्मभूमि पर परानन्द, काव्योचित भावभूमि पर काव्यानन्द तथा वैषयिक भूमि पर विषयानन्द। अभावबोध अ-स्वरूप-परामर्श है और भाव या पूर्णता बोध स्वरूप परामर्श। यही आनंद और आनंद का स्रोत है। इस प्रक्रिया में प्रकाशांश वेद्य विश्रान्त रहकर अनादृत या गौण रहता है और प्राधान्य रहता है–विमर्श का।[३७] अभिनव के दर्शन में यही 'विमर्श' ' हृदय' कहा --- जाता है। सहृदय में यद्यपि 'प्रकाशांश' भी है, फिर भी हृदय (या विमर्श)के उद्रिक्त रहने के कारण वह 'सहृदय' ही कहा जाता है--'सप्रकाश'नही। इस व्यपदेश में 'हृदय' की प्रधानता ही कारण है।

एक और अनुभवसाक्षिक दृष्टि से विचार करते हुए अभिनव ने 'परात्रिंशिका' नामक अपने ग्रन्थ में कहा–"*अधिकचमत्कारावेश एवं वीर्यक्षोभात्मा हि सहृदयता*"।[३८] यह मत यह भी मानता है–"*यस्यैव एतद् भोगासंगाभ्यासनिवेशितानन्तबृंहकवीर्य वृहितहृदयं, तस्यैव सातिशयचमत्क्रिया*"।[३९] अर्थात्, सहृदयता वीर्य-विक्षोभ का ही दूसरा नाम है और यह अधिक चमत्कारावेश में ही होता है। यह सातिशय चमत्क्रिया भी उसी को होती है जिसका 'हृदय' भोगासंग के अभ्यास से वीर्यवृंहित हो। इस धारा में भोगासंग विशिष्ट अर्थ रखता है। यहाँ पर भोग-विमर्श शक्ति का भोग्य वस्तु से एकाकार होना है। विमर्श ही हृदय है। जिसमें भोग्य वस्तु से एकाकार होने का जितना अभ्यास होगा, उसका हृदय उतना ही वीर्यवृंहित माना जायेगा। यह मत यह मानता है कि जो 'शक्ति' परमार्थ-भूमि पर 'विमर्श' है, वही व्यवहार के स्तर पर शरीर में 'शुक्र' है। एक आत्मसार है और दूसरा शरीर-सार। एक परामर्श के स्तर पर आनन्द और सौंदर्य का स्रोत है, दूसरी व्यवहार के स्तर पर। यह न हो तो न सौंदर्य-दर्शन हो और न ही उसकी आनन्दात्मक परिणति। प्रतिभान शक्त को ही होता है, अशक्त को नहीं, और शक्ति उसी के पास होती है जो, असंयत न हो-- संयत हो। कामशक्ति उस बाष्प की भाँति है जो न निष्क्रिय है, न उन्मुक्त, बल्कि संयत ढंग से सक्रिय है। इसी स्थिति में उसका अभीष्ट दिशा में विनियोग हो पाता है। संयत

और समृद्ध शक्ति ही समृद्ध आनन्द का स्रोत है। जो अभिनव व्यसनितासम्पन्न व्यक्ति को 'अ-हृदय' कहता हो, वह 'शुक्र-संक्षोभ' को 'सहृदयता' मानकर समुन्नत और संयत चेतना से उसे जोडना चाहता है–यह सुस्पष्ट है। सौंदर्य-साधना या रस-साधना अभिनव के मतानुसार तब पूर्ण होती है जब साधक समस्त विश्व को सुन्दर लगने के कारण प्यार करता हुआ आनन्द में स्थित हो जाय। इस ऊर्ध्वगामी सौन्दर्य-साधना से अभिनव शुक्रक्षोभात्मा सहृदयता को जोड़ते हैं, इसलिए संयत की शर्त अनायास आ जाती है। गुलाब के सौन्दर्य में मग्न होने वाले और उसको रौंदने वाले, दोनों में से पहला ही सौन्दर्यदृष्टि और भोक्ता कहा जायेगा। यद्यपि शुक्रक्षोभ उभयत्र है, पर एक ऐक्टिव है, दूसरा 'एक्साइटेड'। यह चिंतनधारा क्षोभ को उत्तेजन नहीं, संचलनात्मक कहती है। विमर्श शक्ति क्षुब्ध होकर ही विश्व-वमन करती है। संयत सौन्दर्यसाधक सौन्दर्य को 'व्यसनिता' के सन्दर्भ से काटकर नहीं, बल्कि संयत विवेक से समग्रता या पूर्णता में ग्रहण करता है-–वह आन्तर-बाह्य-समन्वित सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है—'हृदय' से 'आकृति' को जोड़े रहता है। असंयत उत्तेजनावश 'आकृति' तक ही रह जाता है। पहला सौन्दर्य समुन्नत और हृदयसंवादी है और दूसरा खण्डित, फलतः विसंवादी। संयत सहृदय 'हृदय-संवादी-रूप' की ओर आकृष्ट होगा और वह 'रूप' न पापवृत्तये' होगा। पार्वती के रूप में 'हृदय' की छाया है, इसलिए दोनों रचनात्मक हैं—'व्यसनिता' संयत सौन्दर्यद्रष्टा की आँख के सामने समूल ध्वस्त हो गई। इसीलिए संयत द्रष्टा ने पार्वती के रूप को केन्द्र में रखकर कहा था-–

"यदुच्यते पार्वति! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।[४०]

पार्वती, जो यह कहा जाता है कि रूप का पापवृत्ति से सम्बन्ध नहीं है– वह तुम्हारे विषय में अव्यभिचरित है।" जहाँ रूप रचनात्मक हृदय की बाह्य अनुकृति होता है, वहाँ द्रष्टा में भी (मातृत्वभाव) रचनात्मकता का बोध कराता है—फलतः अधोगामी व्यसनिता वहाँ होती ही नहीं। जब मनु श्रद्धा को सम्बोधित करता हुआ कहता है—"अयि, मातृमूर्ति तू निर्विकार।"[४१] तब वह संयत है और रचनात्मक सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। असंयत की वृत्ति विक्षिप्त होती है और संयत की एकाग्र। विक्षिप्त मनोभूमि का आस्वादन निर्मल नहीं होता—फलतः वह गहरा भी नहीं होता। उस आस्वाद में हमें आत्मविस्मृति भी नहीं होती। परन्तु संयत भोक्ता की वृत्ति स्थिर और एकाग्र होती है—फलतः वह अपने क्षेत्र से विषयान्तर को डुबो देती है या हटा देती है—केवल उस एक सुन्दर आलम्बन को ही प्रकाशित करती है, अर्थात्

वह मनोभूमि सब विषयों की उसी एक सौन्दर्य में आहुति देकर उसी एक को लेकर व्यक्त होती है। हैं वे दोनों आनन्द एक ही, पर इस समय वह निर्मल है और इसी कारण अत्यन्त गम्भीर। यह संयत दशा का वीर्य-विक्षोभ है जो एकाग्रताकारी है। इस अवस्था में वह सौन्दर्य अपने आलोक से अपने आप प्रकाशित होता है। भोक्ता और भोग्य मानो स्वसंवेद्यमान सम्भोग में एकाकार होकर स्थित होते है–उस समय आन्तर-बाह्य की चेतना विगलित हो जाती है। इसलिए माना जाता है कि सौन्दर्य यदि वस्तुनिष्ठ होता है तो एक ही वस्तु सबको सुन्दर लगती है और सौन्दर्य यदि आत्मनिष्ठ होता है तो सब कुछ सुन्दर दिखाई देता है, पर दोनों स्थितियाँ सम्भव नहीं है। इस अनुभव के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि एक ओर अस्पष्ट अथ च पूर्ण सौन्दर्य है जो हममें है, दूसरी ओर स्पष्ट किन्तु खंड सौन्दर्य है जिसे हम गुलाब में देख रहे है। किन्तु यथार्थ और पूर्ण रसस्फूर्ति या सौन्दर्य-ग्रहण के समय ऐसा नहीं होता। तब सौन्दर्य द्रष्टा में भी नहीं होता, गुलाब में भी नहीं रहता। द्रष्टा और गुलाब तब एकरस साम्यावस्थापन्न हो जाते हैं– चेत्य और चिति एकाकार हो जाते हैं। यही पूर्ण सौन्दर्य है जो 'सहृदयता' से ग्राह्य होता है। यही शुक्रसंक्षोभ काम है और काम ही सौन्दर्य का प्रकाशक है। वस्तुतः कामतत्त्व का स्फुरण हुए बिना आकृति का लावण्य खिलता नहीं और लावण्य के पूर्ण प्रस्फुटन के बिना रस निष्पन्न नहीं होता। प्राकृत स्तर पर तीनों भिन्न हैं पर अप्राकृत स्तर पर तीनों एक हैं।

ऊपर कहा गया है कि संयत सहृदय (शुक्रक्षोभ) आकृति और हृदय से समन्वित रूप में सौन्दर्य देखता है, इसीलिए जब 'उज्ज्वलनीलमणिकार' सौन्दर्य की परिभाषा देता हुआ कहता है––

"सौंदर्यमङ्गकानां यः सन्निवेशो यथायथम्।" ४२

तब क्या वह हृदय के आनुरूप्य से काटकर कहता है?– नहीं, जोड़कर ही कहता है। प्रेमचन्द कहते हैं कि अब सौंदर्य-दृष्टि बदलनी चाहिए–गुलाबी गालों की जगह मुँह पर उभरी हुई हड्डियों में उसे देखना चाहिए। कारण, गुलाबी गालों में, सम्भव है, दूसरों का चूसा हुआ रक्त उभर आया हो और सूखी हड्डियों से, सम्भव है, मानवीय संवेदना के कारण रक्त मुमूर्षुओं को दे दिया गया हो। स्पष्ट ही यहाँ दूसरा अतिवाद है–असंयत 'हृदय' से कटी आकृति में और प्रेमचन्द जैसा घोर आदर्शवादी 'आकृति' से काटकर 'हृदय' में ही उसे देखना चाहता है। इस सन्दर्भ में निराला की दृष्टि स्वस्थ है–

श्याम तन भर बँधा यौवन । नत नयन, प्रिय कर्म रत मन।[४३]

यहाँ यौवन के जो दो विशेषण है, उनमें एक 'आकृति' का, दूसरा 'हृदय' का संकेतक है और दोनों के मिलने से सम्पूर्णता आ जाती है–सौन्दर्य की यह समग्र दृष्टि है। प्रेमचन्द ने भी अन्यत्र जहाँ 'सामंजस्य' में सौंदर्य देखने की बात कही है, वहाँ संगति है।

बौद्ध तांत्रिकों[४४] की चिंतनधारा के आलोक में 'शुक्र' को 'संवृतिचित्त' और उसके विशुद्धीकृत रूप को 'बोधिचित्त ही महासुख कहा जाता है। सम्भव है, अभिनव ने इन्हीं सब कारणों से बौद्धों को 'नातीवदूरम्' कहा हो। अभिप्राय यह कि संक्षुब्ध शुक्र ऊर्ध्वगामी होता है––संयमवश। संक्षुब्ध शुक्र वाला संयत ग्राहक ही सहृदय है–– उसकी ऊर्ध्वगामिनी सम्भावना उत्कृष्ट कोटि के पूर्ण सौंदर्यबोध में है। यह बात भिन्न है कि आपाततः प्रतीयमान असुन्दर (पिचके और झुर्रीदार) मुख के पीछे छिपी तपस्या के समुन्नत कण हृदय में रहकर नैतिकता से आक्रांत द्रष्टा को सौंदर्यमुग्ध कर सकते हैं, पर अनुरूप आकृति से आत्मप्रकाश करने वाले 'हृदय' का रचनात्मक सौन्दर्य और ही है। विमर्श या हृदय इसी रचनात्मक सौन्दर्य का दूसरा नाम है–ऐसे 'हृदय' वाला ही 'सहृदय' कहा जा सकता है।

२.६ काव्य की रचना-प्रकिया-अभिनवगुप्त की दृष्टि में

आचार्य अभिनवगुप्तपाद की धारणा है कि जैसे आत्मचैतन्य में विश्रान्त शिवा के उन्मीलित होते ही सारा विश्व अन्यनिरपेक्षता के कारण क्षण भर में समुन्मीलित हो जाता है,[४५] वैसे ही रचयिता कवि की आत्मा में सतत उदित प्रतिभा नामक परा वाग्देवता के अनुग्रह से इच्छानुसार काव्योचित विचित्र तथा अपूर्व अर्थ की स्फुरणा होने लगती है––काव्यजगत् क्षण भर में निर्मित हो जाता है[४६]। अर्थात् जो कार्य शिव की शिवा करती है, वही कार्य कवि की प्रतिभा करती है––या यों कहें कि शिव की शिवा ही कवि की प्रतिभा के नाम से जानी जाती है। सच्चा कवि तो केवल माध्यम होता है––काम तो शिवापरनामा प्रतिभा के ही माध्यम से होता है––काम तो शिवापरनामा प्रतिभा ही सम्पन्न करती है।

इसी शैवी धारा के आचार्य आनन्दवर्धन[४७] ने बताया है कि कवि के प्राक्तनपुण्यवशात् जब कभी काव्यनिर्माण में प्रवृत्ति होती है तब वह पूर्वसूरियों द्वारा परम्परा प्राप्त अन्यसृष्ट सामग्री का उपयोग करने से विरत हो जाता है। स्वकीय कर्तृत्व का

उपयोग निरर्थक है--इसीलिये आनन्दवर्धन उसके भी उपयोग को मना करते हैं। अभिप्राय यह कि दूसरों द्वारा प्राप्त सामग्री का उपयोग कवि स्वयं नहीं करना चाहता है--

राजशेखर[४८] ने तो यहाँ तक कहा है कि वह परोपरचितार्थ के प्रति वह जात्यन्ध होता है--फलतः उसके ग्रहण का सवाल ही नहीं उठता है और स्वीय कर्तृत्व इतना सीमित है कि उसके उपयोग का औचित्य नहीं प्रतीत होता। अभिनवगुप्त[४९] इसी स्वरमें स्वर मिलाते हुए कहते हैं कि कवि का अभीष्ट हैं--अपूर्व अर्थ का निर्माण इस अभीष्ट की सिद्धि में या तो वह निरुद्योग होकर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे--या परोपजीवी हो-दोनों ही मार्ग उपहासास्पद हैं। इसलिए उन लोगों की धारणा है कि ऐसी विशिष्ट सर्जना "विसर्जना" के बिना असम्भव है। विसर्जन का अर्थ है--संकीर्ण अहन्ता का पूर्णता में विसर्जन-सीमित शक्ति का परशक्ति में विलयन, सीमित कर्तृत्च का असीमित कर्तृत्व में समर्पण, ऐसा समर्पण कि वही शक्ति कवि को माध्यम बनाकर सक्रिय हो जाये। कवि केवल माध्यम रह जाये और शिवाभिधाना प्रतिभा अपना कार्य आरम्भ कर दे। वही अपूर्व तथा विचित्र काव्योचित अर्थ की स्फुरणा करने में समर्थ है--महाकवित्व के उन्मेष की प्रक्रिया यही है। शैवी धारा रचना में महत्त्व के आघात की यही प्रक्रिया स्वीकार करती है। यह अनुभवसम्मत भी है। व्यवहार, रचना और परमार्थ-सर्वत्र, साधक जितनी बड़ी सत्ता में आत्मसत्ता का विसर्जन करेगा- उतनी ही बड़ी संभावना उसमें सार्थक होगी। यह अहंकार ही है जो रचना को बड़ी होने से रोकता है--यदि वह विसर्जित हो जाय--तो रचना की अपरिमेय सम्भावना उजागर हो जाती है। शुद्धाहन्ता ही रचना की परा उपनिषद् है। सपिण्डित श्लोक यों हुआ--

अहंकारादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
विसर्गोपनिबन्धस्तु सृष्टेरुपनिषत् परा॥[५०]

व्यष्टिसत्ता का समष्टिसत्ता में विसर्जन--कंचुकनिर्मुक्ति पूर्णता का साक्षात्कार है-आनन्दोच्छलशक्ति की स्थिति है--जो सृष्टिबीज है। सृष्टि उसी आनन्दभरित शक्ति की छलकन है--सूक्ष्मस्तर पर वही 'साक्षात्कार' है और स्थूलस्तर पर वही स्वयं रचना। आनन्दोच्छलित शक्ति स्वयं ही स्वयं साक्षात्कार है और स्थूलस्तर पर का सर्जन करती है[५१]--कवि की शक्ति आनन्दोच्छालित होकर ही अपूर्वार्थनिर्माण परायण होती है। अभिनव के गुरू भट्टतौत ने ठीक ही कहा है कि केवल "साक्षात्कार" से

कवि "ऋषि" का पद पाता है और "वर्णना" से कवि का। कवि के लिए "दर्शना" और – "वर्णना" [५२]—दोनों ही अपेक्षित हैं—"दर्शना" आनन्दोल्लास है और "वर्णना" अपूर्वार्थनिर्माण। अभिप्राय यह है कि आनन्दोल्लास की परिणति ही सृष्टि है। विसर्गकालीन संकोचप्रसारात्मक वडवा वरांग की भांति संकोचप्रसारात्मिका आत्मसृष्टि विसृष्टिकाल में आनन्दभरित रहती है। इसलिये यह धारा काव्यरचना के लिए हृदयायतन में विश्रान्त अथ च सततोदितप्रतिमा को समुच्छल होने के लिए उसे रस से भरना ही है। यही रसमयता काव्य का सर्वस्व है—सम्भावनाभरित बीज है। मायूराण्डरसन्याय से इसी से काव्यवृक्ष का विकास होता है जो सहृदय ग्राहक में रसात्मक परिणति पाती है। इसी आशा से शैवी धारा के आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ [५३]

आदिकाव्य की रचना प्रक्रिया का विश्लेषण इतिहास के व्याज से स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि रचना-प्रक्रिया के विषय में ऐसा ही होता रहा है। हमारे यहाँ "इतिहास का अर्थ 'ऐसा हुआ था" - यह नहीं रहा "ऐसा होता रहा है"—–यह है (इति+ह+आस)। रामायण और महाभारत हिस्ट्री के अर्थ मे इतिहास नहीं है। हमारे यहाँ इतिहास की दृष्टि वर्तमान में केन्द्रित है–ऐसा वर्तमान जो अतीत के सातत्य में है–एक प्रकार से यह अतीत की घटनाओं के सन्दर्भ में प्रत्यवलोकन की दृष्टि है[५४]। "राम या कृष्ण जैसे लीलापुरूषों की उपासना इतिहासपुरुष (ईसा-मूसा...) के रूप में न होकर अपने बीच उपस्थित अपनी ईश्वरीयता के प्रमाण के रूप में या विराट् सृष्टि में स्पन्दित मानवीयता की नित्य अभिव्यञ्जना के प्रमाण के रूप में एक जीवन्त उपस्थिति के तौर पर की जाती है।" [५५] अभिनवगुप्तपाद ने अपनी "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी" में इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि सत् न तो केवल कोई कालनिरपेक्ष प्रतीति है, न दिक्काल से नियन्त्रित प्रतीति है—बल्कि यह दिक्काल से अलग रह सकने की अपनी क्षमता की प्रतीति है—पर इसके साथ ही ऐसी क्षमता की प्रतीति भी जो दिक्काल में संसक्त हो सकती है[५६]। इस सबसे मैं यह कहना चाहता हूं कि आनन्द ने इतिहास के व्याज से कविता के लिए एक चिरन्तन सत्य का उद्घाटन किया है न कि केवल काव्य-विशेष दिक्काल नियत काव्य विशेष गत सत्य का। अभिनवगुप्त ने काव्यरचना प्रक्रिया का सारसंकेत इसी

कारिका की व्याख्या के व्याज से स्पष्ट कर दिया है—"*स एव तथाभूतविभाव-तदुत्थाक्रन्दाद्यनुभाव-चर्वणया सहृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः, करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नः, रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवत् चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वरभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादि-नियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः*"—"*मानिषाद प्रतिष्ठां त्वमित्यादि*"।[५७]

इस विस्तृत उद्धरण में काव्य के उत्सभूत रसमयी हृदयदशा से लेकर काव्य के स्थूल रूप व्यक्त होने की सारी प्रक्रिया निर्दिष्ट है। रचना की सोपान-प्रक्रिया इस प्रकार है–विमलप्रतिभानशालिहृदय सहृदय वाल्मीकि आश्रय → क्रौंच से हृदय-संवाद → तन्मयीभवन → आस्वाद → करुणरसास्वाद → लोकोत्तर आस्वाद → आस्वाद का परिपूर्ण कुंभवत् उच्चल प्रवाह-प्रवाह का अनायास आवेशवश समुचित शब्द तथा छंदोवृत्त आदि उपकारणों में सम्मूर्त होकर रचना के रूप में परिणति।

१–इस क्रम में सबसे पहली स्थिति आती है–उत्सभूत हृदय की रसमयी दशा–आनन्दोच्छल दशा[५८]। कविगत रस की स्थिति निर्विवाद है। इस बिन्दु पर काफी कुछ विचारणीय है। पहला यह कि रसप्रतीति सहृदय ग्राहक को ही होती है या कवि को भी? दूसरा रोमैंटिक चिन्तकों का यह आक्षेप कि क्लैसिक्स चिन्तनधारा में–रसवादी धारा में रसोद्बोधक माध्यमभूत सामग्री ही सब कुछ है–रचयिता के आत्मगत सौन्दर्य के साक्षात्कार का अवसर या प्रसङ्ग वहाँ नहीं है! तीसरा यह कि आनन्दवादी शैली ने करुणरस को केन्द्र में रखकर रस को काव्य का उत्स सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों किया? बात यह है कि शैवी धारा में रस चमत्कार सार है[५९] और चमत्कार पूर्णाहन्ता का ही दूसरा नाम है[६०]। शिव आत्मपरामर्श आत्मशक्ति से ही कर पाता है–इसीलिए शक्ति को चेतना की चेतना कहा जाता है। शक्ति ही है जिसके सहारे शिव को मैं पूर्ण हूं–अहम्–यह आत्मपरामर्श होता है और इस आत्मपरामर्श से जो अद्‌भुत प्रत्यय है–वह "चमत्" इस अनुकरणात्मक शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। 'कार' प्रत्यय लगाकर उसे ही "चमत्कार" कहा जाता है। यही चमत्कार आदि रस है— श्रृंगार रस है। विश्वसृष्टि के मूल मैं यही रसतत्त्व प्रतिष्ठित है। जो विश्वसृष्टि के मूल मैं है - वही काव्यसृष्टि के मूल में भी होना चाहिये। और अब यह होना चाहिए तब शैवी धारा करुण को केन्द्र में कैसे रख रही

है? अभिनवगुप्त-सम्मत रसप्रक्रिया के प्रथम सोपान पर ऐसे अनेक प्रश्न स्वतः ही समुद्भूत होते हैं।

जहाँ तक पहला प्रश्न है–वह तो निर्विवाद है कि कवि को रसप्रतीति होती है। विवाद इसलिए खड़ा कर दिया गया था कि रसप्रतीति विश्रांति की दशा है और कवि सक्रिय सत्ता है - क्रियाशील है - वर्णनप्रवण है। एक ही सत्ताधिकरण में विश्रान्ति रूप निष्क्रियता और काव्यक्रिया रूप सक्रियता दोनों किस तरह संभव है? उत्तर दिया जा चुका है। कवि को "दर्शना" और "वर्णना" दोनों अपेक्षित है। पहली विश्रान्ति है और दूसरी क्रिया। दोनों का पौर्वापर्यक्रम से "संयत सातत्य" गतिशील रहता है। तर्क और अनुभव भी साक्ष्य है। तर्क यह है कि यदि मूल में ही रस नहीं रहेगा तो परिणति में कहाँ से आ जायेगा? अभिनवगुप्त का कथन है–

संसारनाट्यजननधातृबीजलताजुषीम्।
जलमूर्तिं शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे॥[६१]

शिवा संसारजननधात्री है–प्रतिभानाट्यजननधात्री–फलतः दोनों बीज हैं–एक से विश्वलता और दूसरी से नाट्यलता विकसित होती है। सो–यह शिवा या प्रतिभा शिव या कवि की जलमयी सरस मूर्ति है। अभिनव ने स्थल-स्थल पर कविगत रस की बात कही है।

दूसरा प्रश्न जो कविगत रस की पुष्टि भी करता है और आत्मसौन्दर्यवादी रोमैंटिक चिन्तकों के आक्षेप-समाधान से भी सम्बद्ध है–यह है कि आनन्दवर्धन ने इतिहास के व्याज से तो कविगत रस की स्थिति बतायी ही है––सहृदय प्रतिपत्ता के अपने अनुभव का भी साक्ष्य दिया है। उनका कहना है कि महाकवियों की वाग्रूपा सरस्वती कामधेनु की भाँति प्रतिपत्ता वत्स के प्रति स्वयं आस्वाद्य अर्थवस्तुके प्रवाह को समर्पित कर देती है और प्रतिपत्ता रसास्वाद के आवेश में कवि के प्रतिभा विशेष तक का साक्षात्कार कर लेता है।[६२] श्री. टी. आर. वी. रामचन्द्र दीक्षितार का मत है कि यहाँ "प्रतिभा" का अर्थ "रसानुभवयोग्यता" है––जिसका साक्षात्कार सहृदय प्रतिपत्ता करता है और अपने अनुभव से कवितात रसवत्ता को प्रमाणित करता है। यद्यपि अभिनवगुप्त "प्रतिभाविशेष" की व्याख्या रूढ़ संस्कार से वही करते हैं जैसा अन्यत्र कह चुके हैं–अर्थात् प्रतिभा कवि की वह क्षमता या शक्ति है जो विशद रसावेश में सुन्दर काव्य का निर्माण

करती है[६३]। स्पष्ट है कि इस श्लोक की अनुभवसाक्षिक उपादेयता दीक्षितार वाली व्याख्या में है।

इसके साथ साथ लगा हुआ दूसरा प्रश्न है कि रसवादी क्लैसिकल चिन्तन में रचयिता का आत्मगत सौन्दर्यबोध उपेक्षित रह जाता है। यह प्रश्न आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने मुझसे किया था। अभिनवगुप्त ने –

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥[६४]

"प्रतिभाविशेषम्" की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा–"अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा, तस्याः विशेषम्–रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्[६५]।" स्पष्ट ही "प्रतिभा"–कविगत "प्रतिभा"—की इस व्याख्या में रचयिता का आत्मगत सौन्दर्य विद्यमान है जिसका अपरोक्षीकरण प्रतिपत्ता सहृदय करता है।

अब तीसरा प्रश्न आता है और वह यह कि जो शैवी धारा शृङ्गार को "शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः"[६६] सृष्टिबीज मानती है, वही काव्यसृष्टि में करुण को केन्द्र में क्यों रखती है? इसके कई उत्तर सम्भव हो सकते हैं। पहला तो यह कि "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"—में "रस" एक ही माना गया है और वह है—पार्यन्तिक परिणति। यहाँ तक पहुंचने में सामग्री भेद हो सकता हैं, पर गन्तव्यगत किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है।

दूसरा उत्तर यह है कि "इतिहास" की भारतीय अवधारणा क्या है, यह ऊपर कहा जा चुका है। उक्त वक्तव्य के माध्यम से आनन्दवर्धन ने एक देशकालबद्ध घटना का उल्लेख नहीं किया है—बल्कि यह बताया है कि ऐसा सदा होता रहा है, आज भी होता है, और आगे भी होता रहेगा। यह एतद्देशीय ही नहीं, सार्वदेशिक प्रसिद्धि भी है। स्तरीय काव्यसृष्टि के लिए करुण को पकड़ने के मूल में कुछ विशेष संकेत है। पश्चिम में भी कहा गया है— Our sweetest songs are those that tell us of saddest thoughts. इस सार्वभौम प्रत्यय संवाद के मूल में कुछ है।

इस प्रश्न को काव्यशास्त्र और शैवी दृष्टि–दोनों के आलोक में देखना है—समुत्तरित करना है। काव्यशास्त्र जहाँ तक ध्वन्यालोक का प्रश्न है–मानता है–"शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्"– माधुर्य करुण में सर्वाधिक है–अर्थात् चित्त की सत्वस्थता सर्वाधिक है—अर्थात् विषय सम्पर्कात्मक काठिन्य या अनाविष्टता सर्वाधिक विगलित है। यद्यपि इसी ध्वन्यालोक में कहा गया है "शृंगार एव मधुरः परः

प्रह्लादनो रसः"---पर अभिनवगुप्त इस अन्तर्विरोध का समाधान करते हुए कहते हैं कि "स्वकार" का व्यावर्त्य करुण जैसा अन्य रस नहीं, प्रत्युत क्रमागत यह धारणा कि शब्दार्थ रचनागत 'गुण' मधुर है सो नहीं। यहाँ वामनसम्मत गुण व्यावर्त्य है। यद्यपि आगे चलकर मम्मट ने इस धारणा के विपरीत यह कहा है कि करुण से अधिक माधुर्य विप्रलम्भ में है और सर्वाधिक शान्त[६७] में। कहा गया है कि यदि हृदयगत काठिन्य या अनाविष्टता (विक्षेप) विषय सम्पर्कवश आता है—तो वह सम्पर्क शत प्रतिशत शान्त में समाप्त होता है—या वहाँ विषय संविदाकार हो जाता है–पृथक् रह ही नही जाता है। आनन्दवर्धन "शान्त" के पक्षधर हैं और अभिनव ने "ध्वन्यालोक"—तृतीय उद्योत के "लोचन" में इसकी पुष्टि[६८] की है — फिर भी वह मम्मट की भाँति "शान्त" में माधुर्यातिरेक की बात क्यों नहीं मानते हैं, वह करुण तक ही क्यों रह गये—उन्हें विप्रलम्भ में करुण से द्रुति की मात्रा कम क्यों भायी? परवर्ती मुनि तो वाग्देवतावतार मम्मट ही है। हो सकता है कि "शान्त" को (समस्ततृष्णाक्षय-सुखात्मा शम का परिपुष्ट क्षेत्र) क्वाचित्क होने से अलग कर दिया गया हो। लेकिन करुण से विप्रलम्भ में द्रुति के आधिक्य के विषय में क्या कहा जायेगा? अनुभवसाक्षिक मतभेद कहकर टाल दिया जाय? "शान्त" के विषय में तो यह भी कहा जा सकता है कि वह सबकी प्रकृति है–शान्ताद् भावःप्रवर्तते"[६९] —और जो सबकी प्रकृति है–वह विकृति के समकक्ष विचारणीय क्यों कहा जाये? मम्मट का आशय स्पष्ट करने वाले तो यह कहते हैं कि विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण में रति के सर्वथा निरपेक्ष होने से विक्षेप ज्यादा होता है और विक्षेप ही तो अनाविष्टता पैदा करता है–जो द्रुति का बाधक है—इसलिये मम्मट का पक्ष दुर्बल नहीं होता है। विप्रलम्भ और करुण का मतभेद भी मान लिया जाय तब भी दोनों में इतना सामान्य तत्त्व तो है ही कि दोनों "अभावग्रस्त" हैं–विप्रलम्भ में सावधि है और करुण में निरवधि-निरपेक्ष। चाहे विश्वसृष्टि और काव्यसृष्टि में जितना भी साम्य हो—-एक अन्तर तो रहेगा ही कि पहला शक्ति का सीधा रूपान्तर है। इसलिए प्रजापति-सृष्टि का मूल जिस तरह का खालिस आत्म-परामर्श है–समुच्छल आनन्द है–कवि सृष्टि में उसके साथ कुछ और है। इसलिए काव्य के लिए अपेक्षित "रस" ब्रह्मस्वाद नहीं—ब्रह्मास्वाद-सहोदर है–दोनों सृष्टियों के मूल में शक्ति और आनन्दोच्छलन के बाबजूद-दोनों की प्रकृति में अन्तर है। काव्य में सृष्टि के ज्ञात उपादानों और उनसे प्राप्त मानस सुखदुःखात्मक प्रतिक्रियाओं का परिष्करण रहता है–यह सामग्री लौकिक

रहकर भी अपनी प्रक्रिया विशेष के कारण लोकोत्तर हो जाती है। कवि प्रजापति सृष्ट-स्थूल सृष्ट-को उपादान बनाकर बहिःप्रकाश करता है शैवीधारा में अन्तःस्थित पदार्थ का बहिःप्रकाश ही सृष्टि है–जो अहम् रूप में द्रष्टा के साथ एकाकार रहता है और "इदम्" के रूप में पृथक् भाव में परिस्फुट हो उठता है। अभिनवगुप्त ने इसी आशय को स्पष्ट करते हुए "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी" में कहा है—

चिदात्मैव हि देवोन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ ७ ॥[७०]

काव्यसृष्टि में इसी सृष्टि की पुनः सृष्टि होती है, अतः अन्तर कहीं न कहीं तो होगा ही। मूल सृष्टि में शृंगार का चमत्कार होता है–पर सृष्टि के रूप में जब अव्यक्त भाव रूप में व्यक्त होना चाहता है तब अभाव के साथ होता है—अभाव में ही भाव प्रतिफलित होता है —इसलिये सृष्टि भावाभावात्मक है—अभावग्रस्त है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी इस मूल अभाव की वेदना से ग्रस्त है। इसलिए वह व्यवहार में निरन्तर अभावग्रस्तता के कारण विक्षिप्त रहता है। जीवन के छोटे छोटे अभावों में यही मूल अभाव निहित रहता है। छायावादी चिन्तक इसी चिरविरह की ओर संकेत करते हैं। लगता है सृष्टि का स्थायीभाव यही चिरविरह है। विरह राग के बिना सम्भव नहीं है, अतः उसके मूल में राग प्रतिष्ठित है। वाल्मीकि का सत्त्व, राम का सत्त्व विकसित है–उनकी रागात्मक सत्ता विश्वसत्ता से एकरस है। अतः सबका दुःख उनका दुःख बन जाता है–पर वह व्यवहार की संकीर्ण प्रतीति से भिन्न प्रकृति का होता है—लोकोत्तर होता है। इसीलिए वाल्मीकि का शोक करुण रस बन गया–राम के शोक के लिए कहा गया "पुटपाकप्रतीकाशः रामस्य करुणो रसः"[७१]। इस प्रकार इतिहास जिस चिरन्तन सत्य का प्रकाशन करता है, वह ठीक ही है।

इस इतिहास से एक और निष्कर्ष निकलता है और वह यह कि रस का सम्बन्ध हृदय की एक अवदात स्थिति से है–उस भूमिका पर जिसका हृदय प्रतिष्ठित रहता है–लोक उसको अन्यथा प्रतीत होता है। वह निखिल जगत् को नाट्यरसिक की भाँति क्रीड़ा के रूप में देखता है, और हर प्रकार से अनुभूति का पर्यन्ततः रस में पर्यवसान करता है–सामग्री चाहे लोक की हो या काव्यादि की। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[७२] भी ऐसा मानते हैं कि सामग्री किसी भी तरह की हो–स्थिति हृदय की यदि अवदात हो–तो प्रतीति रसात्मक हो जाती है, तथापि उनकी चिन्तन पद्धति और

अभिनव की चिन्तन पद्धति में अन्तर है–दोनों में से एक की भूमि बुद्धिवादी है और दूसरे की आत्मवादी। एक की रसप्रतीति मुक्त हृदय—अवदात मनोदशा है, दूसरे की आत्मपरामर्शदशा। इसलिये एक सुखदुःखोभयात्मक रसप्रतीति मानता है और दूसरा अनिवार्यतः आनन्दमय।

इस प्रकार कविगत रसानुभूति जो सर्जनप्रक्रिया का मूल उपादान है—आन्तरिक-बाह्य सर्वविध सामग्री से व्यक्त हो सकती है। वाल्मीकि की अनुभूति बाह्य सामग्री से दीप्त हुई और "दर्शना" से "वर्णना" तक पहुंची–जबकि राम की अनुभूति आन्तर सामग्री से व्यक्त हुई और "दर्शन" से "वाग्‌विलापनादि" तक ही रह गयी। अनुभव के उपयुक्त वक्तव्य में आस्वाद या रसानुभूति तक पहुंचने के तीन सोपान निर्दिष्ट हैं—

१. विभावादि की चर्वणावश हृदय संवाद
२. तन्मयीभवन
३. आस्वाद-करुणरसास्वाद[७३]

व्याधनिहतसहचरीदर्शन विभाव, शोकमग्न सहचर का आक्रन्द अनुभाव–आदि वश वाल्मीकि का निर्मल हृदय उसी रंग से रञ्जित हो गया–तदनन्तर तन्मयीभवन–चेत्य और चित्त का चित् का संविद रूप हो जाना–संविद् विकास की दशा, तदनन्तर आस्वाद या करुण रस की मानस साक्षात्कारात्मिका प्रतीति निष्पन्न होती है। शाङ्कर वेदान्त की तन्मयीभवन वाली प्रक्रिया भिन्न है। वहाँ चित्त विषयाकार परिणत होता है और फिर विषयावच्छिन्न तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का एकीकार होने से साक्षात्कार[७४] होता है। यहाँ विषय का ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मनः पटल पर प्रतिफलन होता है, जो मन चित् का ही स्पन्दनविशेष है। अन्ततः इस प्रकार के चित्त को आत्मरूप करता हुआ संवित् चैतन्य व्यापक हो जाता है–विषय को आत्मरूप करके ही उसका साक्षात्कार करता है। विषय का साक्षात्कार संविद् की व्याप्ति का विकास है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते है–"तथा च घटो मम स्फुरति—इति कोऽर्थः? मदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्टः मद्रूपतामापन्न एव, चिन्मयत्वात्[७५]।" भास्कर कण्ठ ने इसे और स्पष्ट कर दिया है– "*ग्रहणसमये भावस्य मायया भावत्वेन भासितं निजं सहजशुद्धप्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटीभवति यतः, तदा प्रमाता तद्‌वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकीभवति। यदुक्तम्*—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते॥[७६]

व्यापकी भवनञ्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावासादनं च वस्तुतः शुद्धप्रकाशरूपत्वासादनमेव, प्रमातुः शुद्धप्रकाशमात्ररूपत्वात्"–[७७]

इन वक्तव्यों के आलोक में स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष–तन्मयीभवन––का अर्थ है–स्वरूप के रूप में ही बोध।

तन्मयीभवन के अनन्तर आता है––आस्वाद या रसास्वाद। अभिनवगुप्त उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं––"*अनुभावविभावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्ता तद् विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थः रसात्मा*"[७८]

विभावादिबोधवश हृदयसंवाद-तन्मयीभवन-तदनन्तर-विभावनुभावोचित चित्तवृत्ति की वासना से अनुरञ्जित स्वसंविदानन्द की चर्वणा। इस चर्वणागोचर अर्थ को रस कहा जाता है। यह प्रतीति लौकिक अनुभव तथा स्मृति आदि की सरणि से भिन्न है। इसलिये लोकोत्तर है।

इस समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह हुआ कि सृष्टि-काव्यसृष्टि-के लिये अहं का विसर्जन करता हुआ कवि मात्र माध्यम रह जाय, उसका अपना सीमित व्यक्तित्व सक्रिय न रहे, वाग्देवतात्मक प्रतिभा सक्रिय हो जाय, उसके अनुग्रह से अपेक्षित काव्योचित सामग्री स्फुटित होने लगे और इस स्फुरण का उत्स रसमयी हृदयभूमि हो–उसी बीज से कविता रूपी लता विकसित हो। काव्यरचनाप्रक्रिया में रसावेश में सक्रिय विचित्र प्रतिभा की ही स्थिति महत्त्वपूर्ण है। अतः अभिनव की दृष्टि में "प्रतिभा" विषयक अवधारणा का स्पष्टीकरण आवश्यक है। उन्होने जहाँ-जहाँ "प्रतिभा" का स्वरूप स्पष्ट किया है–वहां वहां सर्वत्र उसे रसावेश में सक्रिय "विचित्र" तथा "अपूर्व" वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि रसात्मक चित्तवृत्ति समुच्छलित होकर अनायास काव्यात्मक परिणति पा लेती है। गुणोपसंहारन्याय से दोनों वक्तव्यों को मिलाकर यही आशय स्पष्ट होता है कि रसावेश में स्फुरणात्मक प्रतिभा सक्रिय रहती है और उससे काव्यनिष्पन्न होता है।

वास्तव में व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाये तो "प्रतिभा" में प्रति उपसर्ग दीप्त्यर्थक "भा" धातु तथा "भाव" अथवा "करण" में "क्विप्" प्रत्यय–तीनों का योग घटित है। इस प्रकार "प्रतिभा" भावव्युत्पत्तिक तथा करणव्युत्पत्तिक

उभयविध है। भावव्युत्पत्तिक की दृष्टि से वह एक क्रियाशक्ति है–प्रतिभानं प्रतिभा। करण व्युत्पत्ति से प्रतिभा वह माध्यम है–वह शक्ति है जिसके बल पर प्रतिभान होता है। अभिनव ने "शक्तिः प्रतिभानम्" [७९] कहा भी है--सम्भवतः यह औपचारिक प्रयोग है। वास्तव में इन दोनों में भावव्युत्पत्तिक "प्रतिभा" ही सटीक बैठती है। हाँ, विश्रान्त दशा में वह माध्यम है और जाग्रत दशा में स्फुरण (A flash of light revealative) मम्मट जब "*शक्तिः कवित्वबीजभूतसंस्कार विशेष*"[८०] कहते हैं तब वे "*स्वात्मायतनविश्रान्तप्रतिभा*" की ही बात करते हैं और जो लोग उसे "*काव्य घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति*"[८१] रूप मानते है वे जाग्रत क्रिया शक्ति के रूप में ही स्वीकार करते है। अभिनव में दोनों रूपों का सङ्केत मिलता है।

यह "प्रतिभा" आर्ष भी होती है और कदाचित् अनार्ष भी। हो चाहे जो, पर जाति एक ही है। शैवी धारा में इसका प्रयोग "पराशक्ति" के रूप में मिलता है— अन्यत्र सहज ज्ञान के रूप में। आगमों में त्रिपुरा शक्ति रूप में भी उसकी चर्चा मिलती है। उत्तररामचरित में ब्रह्मा से आदिकवि वाल्मिकि के लिए कहलवाया गया है--"*अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभाति। आद्यकविरसि*" [८२]। उत्तररामचरित के टीकाकार वीरराघव ने इस आर्षचक्षु या आर्षप्रतिभा की व्याख्या करते हुए कहा है--"*आर्षम् ऋषिसम्बन्धि योगजन्यज्ञानं चक्षुः नेत्रं ज्ञानमिति फलितोऽर्थः*[८३]।"

आर्षचक्षु का अर्थ हुआ--ऋषि का ज्ञान–विशेषकर जो योग से प्राप्त हुआ हो। वैसे ऋषि शब्द जिस दृश् धातु से निष्पन्न है—वह स्वयं गत्यर्थक है--और गत्यर्थक धातुएँ बुद्ध्यर्थक होती हैं, अतः ऋषि शब्द का अर्थ है–अतीत, अनागत तथा वर्तमान-सभी काल की वस्तुओं का ज्ञान रखने वाला--साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति। पातञ्जल दर्शन के "विभूतिपाद" नामक तीसरे अध्याय में कहा है– "ततःप्रातिभाश्रावण-वेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते[८४]।" इस प्रातिभा ज्ञान की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट ने कहा है कि—*दृष्टिकारणं विनैव अकस्माद् व्यवहितविप्रकृष्टातीता-नागतसूक्ष्मार्थेषु यथार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रतिभा*[८५]"—अर्थात प्रतिभा वह पुरुष-प्रज्ञा है जिससे योगीजन दृष्ट कारणों के बिना ही अकस्मात् व्यवहित, विप्रकृष्ट अतीत, अनागत तथा सूक्ष्म अर्थो का साक्षात्कार कर लेता है। राजशेखर ने अपनी "काव्यमीमांसा" में भी प्रतिभा (कवि) के इसी रूप की पुष्टि की है और सोदाहरण बताया है कि किस प्रकार

कवि प्रतिभा अदृष्ट देश और काल का वर्णन सही-सही कर डालती है। राजशेखर के कहने से लगता है कि आर्ष और अनार्ष—उभयविध प्रतिभा का कार्य एक ही है—पर ऋषि योग शक्ति से प्राप्त करता है और कवि विसर्जन की प्रक्रिया से। ऋषि प्रतिभा ही है और कवि पराशक्ति प्रतिभा का यंत्र। "योगकालतंत्र" में प्रतिभा को प्रज्ञा कहा गया है। व्याकरण दर्शन में–जो शैवी और ब्राह्मी धारा का संगम है–"पश्यंती" रूप "प्रतिभा" मानी गई है। आगमों में कहीं कहीं यह "संविद्" रूप भी कहा गया है। बौद्ध केवल प्रज्ञा से ही परिचित हैं। जैनधारा अवधि ज्ञान और केवल ज्ञान के रूप में आर्ष ज्ञान की विवेचना करती है। न्याय, वैशेषिक और वेदांत प्रतिभा को आर्षज्ञान का पर्याय मानते हैं। इस प्रकार आर्षज्ञान के अर्थ में प्रतिभा का सर्वत्र उल्लेख मिलता है–पर शैवी धारा उसे पराशक्ति के रूप में ही ग्रहण करती है। प्रजापति– और कवि–उभयत्र वह–"विश्रांत" और "क्रियाशील"—दोनों स्थितियों में ही है। कारिका में अभिनव उसे–"विश्रांत" कहते हैं और "अभिनवभारती" की वृत्ति में "सततोदित वाग्देवता" कहते हैं। अवश्य ही दोनों में वे संगति देखते होंगे।

धनिक ने दशरूपक की "अवलोक" नामक टीका में अनार्ष प्रतिभा सम्पन्न कवियों को सम्भवतः दृष्टिगत कर कहा है—"*न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति किं तर्हि सर्वलोकसाधारणीः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रय-मात्रदायिनीर्विदधति*"[८६]। अर्थात् जिनमें आर्ष प्रतिभा नहीं है–ऐसे कवियों में अनार्ष प्रतिभा है। ये कवि योगी नहीं है कि ध्यानचक्षु से रामादि की व्यक्तिगत चेष्टाओं का साक्षात्कार कर इतिहासकार की भांति उसे यथातथ रूप में प्रस्तुत करते हैं—विपरीत इसके अपनी उत्प्रेक्षा शक्ति या अनार्ष प्रतिभा से सर्वजनसंवेद्य धीरोदात्त आदि पात्रों की अवस्थाओं को भावनापटल पर ले आते हैं और किसी पात्र में उसे उड़ेल देते है। आस्वाद की प्रक्रिया में ये पात्र अपना विशेष रूप खो देते हैं और आस्वाद में साधन बन जाते है। सवाल यह खड़ा किया गया है कि न तो कवि ने ऐतिहासिक पात्र को इतिहास लेखक की तरह रखा है और न ही आस्वाद की ओर से उस रूप में उसकी उपयोगिता है—तो उसे ऐतिहासिक नाम देने की आवश्कता ही क्या है? यदि सर्जन और ग्रहण—दोनों ओर से पात्र की वास्तविकता अनुपयोगी और अपारमार्थिक है तो उसका वर्णन में उपादान क्यों किया

जाता है? दशरूपककार धनञ्जय का पक्ष है कि खेल में जैसे बालक अपारमार्थिक मिट्टी के बने हाथी-घोडों से खेलता हुआ उत्साह का आस्वाद करता है वैसे ही अर्जुनादि पात्रों को अपारमार्थिक मानता हुआ भी ग्राहक सहृदय भावों का सही आस्वाद करता है। अभिनवगुप्त ने भी "अभिनवभारती" में "*भावकस्य (दुष्यन्तस्य) अपारमार्थिकत्वात्*[७]"—कह कर निर्विशेष "भीत" से "भय" के आस्वाद को ही परमार्थतः नाट्य माना है।

इस प्रकार आर्ष और अनार्ष प्रतिभा का अन्तर भी बताया जाता है। आर्ष प्रतिभा में वर्ण्य प्रत्यक्ष दृष्ट होता है और अनार्ष में प्रत्यक्षायमाण होता है। इस तरह स्वरूपतः अंतर होने पर भी काव्य सृष्टि के लिये जब "प्रतिभा" सक्रिय होती है तब लगता है कि सामग्री स्वविषयक व्युत्पत्ति के निमित्त यथावत् रूप में उपात्त नहीं होती है वहाँ "आस्वाद" मुख्य होता है - सामग्री उसके लिए जहाँ तक अनुगुण होती है वहीं तक इतिहास से लेकर काँटी-छाँटी और तराशी जाती है अथवा रसावेश में सक्रिय प्रतिभा में अनुगुण सामग्री स्वतः स्फुटित होती जाती है—वहाँ सामग्री पारमार्थिक हो या न हो–रसानुगुण अवश्य हो। इस प्रकार आर्ष प्रतिभा की आस्वाद-परतंत्र अभिव्यक्ति और स्वतंत्र अभिव्यक्ति में अंतर है। यहाँ संदर्भ काव्यसृष्टि का है और तदर्थ अपेक्षित प्रतिभा के कार्य का है। अभ्यास और साधना की प्रगाढ़ता से कवि की समाधि जब लग जाती है तब ऐसा स्वानुभव सिद्ध है कि लेखक आविष्ट है और आवेश में वह पराधीन सा अनुभव करता है–सृष्टि अज्ञातभाव से होती चलती है–चाहे आर्ष हो या अनार्ष—उभयत्र अहं का विसर्जन महत् सृष्टि के लिये सर्ववादिसम्मत है। निश्चय ही यह प्रतिभा शक्ति अ-व्यक्तिगत है।

उक्त विवेचन के आलोक में स्पष्ट है कि प्रतिभा दो कार्य करती है–पहला तो यह कि वह व्यवहित और विप्रकृष्ट—परोक्ष वस्तुओं का अपरोक्षीकरण (दर्शन) करती है। और दूसरा यह कि वह रसावेश में साक्षात्कृत वस्तुओं या सामग्री में लोकोत्तरत्व का आधान करती है। इसी लोकोत्तरता को नव-नवता, अपूर्वता, विलक्षणता, आतिशय्य–आदि नामों से पुकारा जाता है। यह है–प्रतिभा का "दृष्टि" (दर्शना) पक्ष। प्रतिभा "दर्शन" ही नहीं करती है–जिस "सत्य" का साक्षात्कार करती है–स्थूल स्तर पर उसमें निहित सम्भावनाओं के अनुरूप वह रचती भी है। यह रचना उसका निर्माण-पक्ष है–सृष्टिपक्ष है। अभिनव की विवेचनाओं में इसके भी संकेत है

कि वह परोक्ष का अपरोक्षीकरण किस कोटि की करती है और अपरोक्षीकृत सामग्री लोकोत्तरता का स्वभाव बना होता है।

जहाँ तक अनागत या अतीत के अपरोक्षीकरण का संबंध है - भट्टतौत ने स्पष्ट कहा है कि सर्जक प्रतिभा में अतीत और अनागत वर्तमान बन जाते हैं।

कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत्।[८८]

उनको लगता है जैसे सब कुछ सामने घटित हो रहा हो–अतीत और अनागत जैसी व्यवधायक रेखाओं को तोडकर वर्तमान से घुलमिल कर सब एकरस हो जाते हैं। इधर दृश्य वर्तमान हो जाता है–उधर द्रष्टा-हृदय-व्यक्तिहृदय की सीमा लाँघ कर समष्टि के साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है–व्यक्ति हृदय लोक हृदय में निमग्न हो जाता है–यही कवि की उत्प्रेक्षा-शक्ति है, जिससे वह सर्वलोक साधारण-सहृदयमात्र संवेद्य काव्योचित सुन्दर सत्य का साक्षात्कार करता है। इस "दर्शन" में उपादान सामग्री लोकानुभूत ही रहती है–पर उसका संयोजन या सन्निवेश लोकोत्तर प्रभावकारी होता है।

बात यह है कि विश्व में इंद्रियगोचर स्थूल विषय ही नहीं हैं–अतीन्द्रियगम्य सूक्ष्म विषय भी है, जिनमे से कुछ की प्रतीति वैज्ञानिक उपकरणों से है और कुछकी मानसिक क्रिया विशेष से। मन की अद्‌भुत महिमा है, वह सत्-असत्-सबका साक्षात्कार ही नहीं, सृष्टि भी कर सकता है और करता भी है। सृष्टि के सारे पदार्थ महामन से ही तो निकले हैं और आगे भी नये पदार्थ उससे निकल सकते हैं, पर मानव द्वारा सृष्ट पदार्थो के उपादान उसी महामन की अभिरुचि से निर्मित सृष्टि के होते है। वह उन्ही उपादानों से नई नई सृष्टि कर सकता है–पर वह चाहे कि नया उपादान ही निर्मित कर ले–सर्वथा मौलिक सृष्टि कर ले, यह सम्भव नहीं है। आपाततः मनःसृष्टि संसार चाहे जितना असंगत और विलक्षण लगे–पर बोध अन्ततः सुसंगत और सुलक्षण ही होना चाहिए—अन्यथा अभिनवगुप्त उसे अविश्वसनीय कहते है–फिर ऐसी सामग्री से विवेक का निर्माण नहीं हो सकता है। विनेय ग्राहक के लिए कवि मनःसृष्ट सामग्री विश्वसनीय और बोधगम्य होनी चाहिये। इन सबके बावजूद मन और बुद्धिसाधन ही है–यंत्र ही है। उनमें स्वतः चेतना नहीं होती है, प्रकाश नहीं होता है। वे जिसके प्रकाश में अपना कार्य करते हैं–वह वही महाशक्ति है–प्रतिभाभिधान परवाग्देवता है। उसी के अनुग्रह से विचित्र और अपूर्व पदार्थ स्फुरित होते है। आनंदवर्धन ने काव्य की नवता पर विचार करते हुए देश काल तथा व्यक्तिभेद से अनंतता सिद्ध

की है—अभिव्यक्ति भंगी से अनंतता की मात्रा वृद्धि सम्भावित की है—पर माना है कि सहृदय मात्र में समान भावोद्बोध क्षमता सम्पन्न हो—सामान्यीकृत हो। दशरूपककार का यह कहना भी सही है कि कवि योगी की भाँति प्रातिस्विक रूप में पात्रों को देखकर उपनिबद्ध नहीं करता है; अपितु रसिक होकर रसात्मक ढंग से, सर्वसाधारणकृत विशेषताओं से संबलित करके काव्य में प्रस्तुत करता है—इसलिए उनकी नवता का अर्थ नया की तरह—होता है—नया ही नहीं।

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ [८९]

रसमग्न कवि की प्रतिभा में स्फुटित अर्थ नये की तरह मालूम पड़ते हैं—इसी अर्थ में वे विचित्र हैं—नये हैं। लोकोत्तर का अर्थ भी यही है कि इस "काव्यार्थ" की सृष्टि "व्यवहार" और "शास्त्र" की मनःस्थिति से भिन्न "कुछ और" ही मनःस्थिति में नहा कर बाहर आती है और ग्राहक को भी "कुछ और" ही स्थिति में डुबो देती है—इसीलिए लोकोत्तर है। लोक की भांति काव्यार्थ के पास कोई अर्जन-विसर्जन की नीयत से नहीं आता है—अतः लौकिक सुख दुःख का नैयत्य भी अनुभव नहीं करता है—उससे ऊपर कुछ आनंदकर या विश्रान्ति दशा में पहुँचता है। इसीलिये कवि की प्रतिभा इस नये से जान पडने वाले काव्यार्थ में लोकोत्तरता आहित करती है। कहा ही है— *प्रस्तुतातिशयविधानमन्तरेण न किञ्चिदत्रापूर्वमस्ति।* [९०]

सृष्टिप्रक्रिया में इन लोगों के यहाँ "मायूराण्डरसन्याय" की बात आती है। वही न्याय काव्य की रचनाप्रक्रिया में भी लागू होती है। वहाँ सृष्टि का अर्थ ही है—अंतः स्थित का बहिःप्रकाश। उसी प्रकार यहाँ भी कवि रसमयी अवन्ध्य—वन्ध्याभावशून्य —सर्जनात्मक अनुभूति को अनुरूप सुन्दर काव्य सामग्री में मूर्त कर देने को आविष्ट है—कवि का सारा यत्न अनुभूति की अभिव्यक्ति में एकतान रहता है -यही एकतानता समाधि है—इसके सधने से सब सधा रहता है और इसके शिथिल होने से सब शिथिल हो जाता है। इसके शिथिल होने का आशय हैं—यत्न का विभक्त हो जाना। प्रयत्न अभिव्यक्ति के लिए है। अनुभूति के उसी आवेश में कलात्मक उपकरण स्वतः स्फूर्त होते हुए चले जाते हैं। इस प्रकार अभिनवसम्मत काव्य की रचना प्रक्रिया में शतपत्रभेदनन्याय से अपेक्षित सोपान निम्नलिखित क्रम से घटित होते हैं -

समुचित सामग्री से हृदय संवाद

↓

तन्मयी भवन

↓

(अहं भाव) । आस्वाद–विश्रान्त दशा

(प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः)

|

(अहमिदम्भाव: | चमत्कारात्मा) विमर्शमयी प्रतिभा का उद्रेक

| (आनन्दोच्छालिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना)

अनिरुध्देच्छाप्रसार

दर्शना—————— सूक्ष्म भाग का आकलन (दृक् भाव)

क्रिया—सृष्टि

वर्णना—————— समुचित शब्दछन्दोवृत्तमय काव्य की रचना

२.७ कलाओं की मूल्य-दृष्टि

वर्तमान चिन्तन में ऐसे अनेक शब्द प्रयोग में चलने लगे हैं जो अपनी परम्परा से क्रमागत 'मौलिक' दिखते हुए भी मौलिक है नहीं-वे पाश्चात्य परम्परा से अनूदित रूपान्तर हैं। 'मूल्य' शब्द भी ऐसा ही है-वह Value का रूपान्तर होकर व्यवहृत हो गया है। वैसे 'मूल्य' संस्कृत है और तदनुसार उसका अपना अर्थ है और वह कहीं 'मूल' से अवश्य जुड़ा हुआ है। यों चाहे उसे मौलिक रूप में लें या अनूदित रूप में–उसकी रूढ़ि या अभिधा 'क्रीत' के लिए दी जाने वाली अर्थराशि ही है-पर लक्षणा शक्ति से अमूर्त उपादेयता के अर्थ में भी प्रचलित है जो कुछ भी जीवन और समाज के लिए उपादेय है- वह मूल्यवान है- Valuable है। निश्चय ही Price और Value में दूसरे का अर्थ व्यापक है और प्रकान्त 'मूल्य' इसी दूसरे का रूपान्तर है। यदि भारतीय सन्दर्भ में 'मूल्य' को 'मूल' से जोड़ कर देखा जाय तो अर्थ की और भी परतें खुल सकती हैं। मनुष्य का मूल 'मानवता' है।[9] मनुष्य इस 'मूल' से जुड़कर ही मनुष्य है। 'मानवता' मानव का मानवेतर से असाधारण व्यावर्तक धर्म है ठीक वैसे ही जैसे 'गंध' पृथिवी का अन्य महाभूतों से व्यावर्तक धर्म है।

'मानवता' जो हमारी 'मूल' है–दृष्टि-भेद से भिन्नार्थक हो सकती है- पर उन सभी भिन्नार्थों में मानव की मानवेतर से व्यावर्तकता बराबर बनी रहेगी। यदि हम पदार्थवादी दृष्टि से देखें यानी मार्क्सवादी दृष्टि से देखें तो एक बुद्धिजीवी 'मानवता'[१] का अर्थ 'परदुःखकातरता' ही कहेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने एक निबन्ध में भी यही कहा है। जयशंकर प्रसाद की दृष्टि से शुक्लजी 'विवेकवादी' (करूण की परम्परा में) हैं- अतः एक विवेकवादी या दुःखवादी 'मानवता' से यही समझेगा। दूसरा है इन्द्र सम्प्रदाय का आनन्दवादी–चेतनावादी। यह उक्त व्यावर्तक धर्म को नकारेगा नहीं, परन्तु और गहरे जायगा। वह कहेगा कि 'परदुःखकातररता' तभी सम्भव है जब मानव के हृदय का 'रागात्मक' प्रसार होगा। अर्थात् हमारी रागात्मक सत्ता का जितना ही प्रसार होता जायेगा- 'परदुःखकातरता' की सीमा उतनी ही बढ़ती जाएगी। बात यह है कि रागात्मकता आत्मविस्तार करती है- आत्मीयता के क्षितिज का प्रसार करती है। यह आत्मीयता जितनी व्यापक और प्रगाढ़ होगी 'परदुःखकातरता' उतनी ही व्यापक और तीव्र होगी और जितनी व्यापक और तीव्र होगी- उतनी ही मानवता (रचनात्मक सम्भावना) चिरतार्थ और सार्थक होगी। चेतनावादी इस 'राग' का उन्नयन करता-करता इसे सृष्टि की मूल सत्ता का पर्याय बना देता है और ऊर्ध्वबाहु उद्घोष करता है- 'प्रेमा पुमर्थो महान्' – प्रेम सबसे बड़ा पुरुषार्थ है–सर्वोपरि 'मूल्य' है– उससे बड़ा कोई मूल्य नहीं। चेतनावादी की सोच में इससे बड़ा कोई मूल्य नहीं है- 'मानवता' में निहित सम्भावना का यह सर्वसमावेशी रूप है। यही हमारी ऊर्जा है–शक्ति है–चिन्मयी शक्ति है, चिदाह्लादमयी शक्ति है जिससे सब कुछ होता है– रहता है और अन्ततः जिसमें सबकुछ विलीन हो जाता है। यही 'मूल' है- इससे जुड़ना मूल्यवान् होता है। मूल्यवत्ता इसी में निहित है। इस तारतम्य से मूल्य का तारतम्य होता है। चेतनावादी भारतीय दृष्टि से 'मूल्य' की यह व्याख्या भी हो सकती है। इसी क्रम में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे पुरुषार्थों के लिए 'मूल्य'

---

१. परम्परा में 'मूल्य' शब्द तद्धितान्त प्रयोग है। 'मूल' से 'आनाम्य' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है - अतः (मूलेन आनाभ्यां मूल्यम्) मूल्य शब्द बनता है। 'मूल' का अर्थ है- मूलधन। कितने द्रव्य से वणिक् वस्त्र आदि का क्रय करता है-वह मूलधन है। उस मूल से आनाम्य अर्थात् अपने प्रति जो लाभाँश (शेषीकृत) है वह मूल्य है। हमारा मूल प्रस्तुत संदर्भ में लक्षणा शक्ति से एक भिन्न अर्थ लिया जा रहा है। हमारा मूल है- मानवता उससे जो आनन्दात्मक लाभांश है- वह मूल्य है। वैसे वह अंश नहीं पूर्ण है।

शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इस व्याख्या में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इस व्याख्या में 'मूल्य' ही नहीं, 'मूल्य-दृष्टि' का भी व्याख्यान हो जाता है। 'मूल्य-दृष्टि' अर्थात् 'मूल्यपरक-दृष्टि' अर्थात् मूल्यवत्ता की निर्द्धारक दृष्टि। प्रस्तुत निबन्ध इसी चेतनावादी दृष्टि से कलाओं की मूल्यवत्ता का आकलन है।

'कला' के स्वरूप निर्धारण के पीछे भी इसी दृष्टि का सहारा लिया गया है। इस 'दृष्टि' को थोड़ा और स्पष्ट करना होगा। 'चेतनावाद' से मेरा अभिप्राय 'चेतनाद्वैतवाद' है। यह चेतनाद्वैतवाद शंकर ब्रह्मवाद से थोड़ा भिन्न है–यह कश्मीरी ईश्वराद्वयवाद है। शांकर ब्रह्म में आरोपित 'शक्ति' (माया) है–कश्मीरी ईश्वराद्वयवाद में 'स्वाभाविक शक्ति' (शक्ति) है। इसीलिए पहला 'मायावाद' कहा जाता है और दूसरा 'शक्तिवाद'। पहले में 'पोटेंशियलिटी' नहीं है- दूसरे में है- इसीलिए 'ब्रह्म' स्रष्टा नहीं है, कश्मीरी 'ईश्वर' स्रष्टा है। पहले के अनुसार सृष्टि ब्रह्मह्म में आरोपित अनिर्वचनीय और ज्ञाननिवर्त्य माया की (भ्रमात्मक) सृष्टि है- दूसरे के अनुसार स्वाभाविक शक्ति की उपज सृष्टि है –अतः सत्य है–उसका शिव स्रष्टा है–उसे सर्जन में आनन्द आता है––आनन्द उसका स्वभाव है- अतः सर्जन-विसर्जन या संकोच-प्रसार स्वभावतः होता रहता है। अभिनवगुप्त ने कहा है- "जिस प्रकार बड़वा विसर्गकाल में अपने वराङ्ग का संकोच-प्रसार करती हुई आनन्द लाभ करती है- इसी प्रकार सर्ग-प्रलय करता हुआ शिव भी अपने संकोच-प्रसारात्मिका शक्ति की स्वभावजात क्रिया में आनन्द लाभ करता है।" यह आनन्दोच्छल शक्ति ही स्वयं से स्वयं की रचना या आत्मप्रसार करती है। अन्तःस्थ का बहिःप्रकाश ही सृष्टि है। शंकर दुःखवादी हैं–कश्मीरी शैव आनन्दवादी हैं–इसीलिए पहला 'राम' को हेय समझ कर उसका दमन करता है और दूसरा उपादेय समझ कर उसका शोधन करता है और अन्ततः उसके निखरे हुए रूप में आत्म-लाभ करता है। कला के मूल्यांकन में यही भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि गृहीत हो सकती है। कला का मूल्य हम अपनी सांस्कृतिक दृष्टि से ही कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति यही परिनिष्ठित दृष्टि है। भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि के निर्माण स्रोत 'निगम' और 'आगम' हैं। 'निगम' निगमन या निर्वहण या उपसंहार है और आगम आगमन या उपक्रम का आरम्भ है। उपक्रमी को 'शक्ति' के उन्मीलन की, साचिव्य या साहाय्य की अपेक्षा है-निर्वोढ़ा 'शक्ति' का संहरण कर लेता है–वह अनुन्मीलित हो जाती है–स्वात्मायतन विश्रान्त हो जाती है। यही कारण है कि निगम

के मूर्द्धन्य शांकर दर्शन में शक्ति अनुन्मीलित रहती है और आगम के शिखर दर्शन प्रत्यभिज्ञा में उन्मीलित रहती है- अतः 'समन्वयी' भारतीय सांस्कृतिक 'दृष्टि' से 'शक्तिवादी' दर्शन समन्वित दर्शन है। इस आगमिक दृष्टि का स्वीकार रामसिंह जैसे जैनों के पाहुड़ दोहा में तो मिलता ही है–बौद्धों की 'युगनद्ध' तत्त्व की अवधारणा में भी सुस्पष्ट है। परासत्ता की स्वभावभूता शक्ति ही 'आनन्द' है 'रस' है। आनन्द की ओर ले जाने वाली अभिव्यक्ति 'सुन्दर' है और 'सौन्दर्य' को मूर्त करना 'कला' की चरितार्थता है–सार्थकता है –मुख्य लक्ष्य और उद्देश्य है। इस प्रकार कला की मूल्य दृष्टि यही दृष्टि है। इसी सांस्कृतिक चिन्तन क्रम में कला का मूल्यांकन सम्भव है।

उपर्युक्त 'शक्तिवादी' भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि सम्पन्न आचार्य परासत्ता और उसके स्वभाव (शक्ति) को आनन्दमय या रसमय तो कहते ही हैं – उसका कलाकार रूप में स्मरण भी करते हैं। इसी प्रस्थान की एक प्रस्तुक में कहा गया है –

विश्रान्तिर्यस्य संभोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा कला मता॥

कला वह नहीं है जिसकी विश्रान्ति पार्थिव संभोग में होती है- कला वह है जिससे यह आत्मा परमानन्द में लीन हो जाती है। इसी लिए "कं सुखं (परमानन्दं) लाति आदत्ते–इति कला" – यह व्युत्पत्ति भी संगत हो जाती है। इसी आनन्द की ओर ले जाने वाला माध्यम 'सुन्दर' और उसका माध्यम 'कला' है। 'सुन्दर' का भी व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ (सुष्ठु उनत्ति आर्दीकरोति चित्तमिति सुन्दरम्) यही है- अर्थात् सुन्दर वही है जो चित्त को आनन्द में भिगो दे।

यही दृष्टि या प्रस्थान है जिसमें परासत्ता को रसात्मा कहा गया है और तमाम प्रकार की कलाओं में निष्णात उसका आदि रूप और स्रोत कहा गया। अभिनवगुप्त कहते है–

निरुपादानसम्भारसभित्तावेव तन्वते
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

बिना किसी उपादान, आधार और तूलिका के स्वतंत्रात्मा कलाश्लाघ्य शूली इस जगच्चित्र का निर्माण करता है –वह सर्वथा नमस्करणीय है। इसी भाव को पुनः इस श्लोक द्वारा भी व्यक्त किया गया है–

जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मन्यात्मतूलिकया।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः।

अपने आश्रय में स्वयं तूलिका बन कर जगच्चित्र का परमेश्वर निर्माण करता है और उसका अवलोकन कर उल्लसित भी होता है। वह चित्रकार ही नहीं है–जगत् नाट्य-जननी शक्ति का आधार नटराजराज भी है। किसी अभूतपूर्व उल्लास में निमग्न शिव का ही यह समस्त जगत् लोकोत्तर नर्तन है। नाट्यशास्त्र में अभिनव ने कितना संगत कहा है–

संसार-नाट्य-निर्माणे यावकाशविधानमः ।
पूर्वरंगायते व्योममूर्तिं तां शाङ्कारीं तनुम् ॥

संसार रूप नाट्य के निर्माण में जो व्योम-मूर्ति शांकरी तनु आत्म-निषेधपूर्वक उस चिद्घन में अवकाश देती है –वह मानो पूर्वरंग का विधान करती है। शक्ति को इसीलिए निषेध-व्यापाररूपा कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में, उसकी अभिनवभारती में अभिनव उसे 'रसमात्र मूर्ति' कहते है। कहा गया है वहीं कि शिव संसार नाट्य-नायक पुरूषाकार हैं- वह वाचिक, आंगिक, सात्विक और आहार्य-सर्वविध चित्राभिनय में परम-प्रवीण हैं।

वागङ्गसत्वचेष्टाचित्राभिनयप्रयोगचणः
संसार-नाट्यनायकपुरूषाकारः शिवो जयति ॥ (नाट्यशास्त्र)

अभिप्राय यह कि इस प्रस्थान में परासत्ता को कला की प्रत्येक विधा के आदि-स्रोत रूप में बराबर स्मरण किया गया है।

सम्प्रति, संक्षेप में यह भी देख लेना चाहिए कि इस प्रतिनिधि प्रस्थान में 'कला' की क्या अवधारणा है? उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'कला की मूल्यवत्ता रसमय स्वरूप में विलयकारिता के कारण है।' इसीलिए अपनी मान्यता है कि स्वतंत्र कला वह कला है जो असीम को सीमा में प्रस्तुत कर देती है। पर सीमा उसका संकेत करती है। यह सीमा प्रतीक है। प्रतीक अल्प में अनल्प का, सान्त में अनन्त का और सीमा में असीम का अनुभव कराता है। प्रतीकीकरण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण नटराज का विश्व-नर्तन है-जो नृत्य, चित्र और मूर्ति में व्यक्त है। अनवरत प्रवाहमय सृष्टि का सर्वोत्तम प्रतीक नर्तन ही है। वहां गति, स्थिति और विश्रान्ति–तीनों हैं। उनकी मुद्रा में शिव के पांचों कृत्य-सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह व्यक्त हो रहे है।

सीमा परासत्ता को इन्द्रिय-ग्राह्य बना देती है। कला का कोई भी प्रकार अन्ततः आत्मानुभव तक पहुंचा देता है। भारतीय चिन्तन के अनुसार केवल दो ही इन्द्रियां–श्रोत्र एवं दृक् हैं–जो कलोचित सौन्दर्यबोध कराती हुई आत्मानुभव तक पहुंचा देती है।

यही कारण है कि भारतीय चिन्तन में सौन्दर्य का सम्बन्ध मुख्यतः 'काव्य' और 'संगीत' से रहा है। स्वतंत्र कला का सर्वश्रेष्ठ रूप काव्य है और काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप नाट्य। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन में सौन्दर्य का विचार इसी सन्दर्भ में किया गया है।

इस दार्शनिक प्रस्थान में 'कला' माया का प्रथम उत्पादन है। यह 'माया' ही है जिसके द्वारा आवृत्त होकर असीम या विश्वात्मा आणव मल से आच्छन्न होकर सीमा में आ जाता है—अणु-भावापन्न हो जाता है–एक अनेक की भूमिका में उतर जाता है—तब उसकी कर्तृत्व शक्ति परिच्छिन्न हो जाती है। यही परिच्छिन्न कर्तृत्व शक्ति कला है –या कर्तृत्व परिच्छेदकारी शक्ति कला है। कला स्वयं अंश है। वस्तुतः मायाच्छन्न आणव आत्मा की ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ विलीन हो चुकी रहती हैं– 'कला' अणुभावापन्न व्यष्टि प्रमाता के सन्दर्भ में क्रिया शक्ति को अंशतः पुनःस्थापित करती है। इस प्रकार कला समग्र क्रिया शक्ति के एक अंश की वाचक है। 'कला' को एक स्वतंत्र तत्त्व इसलिए माना गया है कि वह परिमित आत्मा में परिमित क्रिया-शक्ति को लौटा ले आने का कार्य करती है–या इसके द्वारा होता है या किया जाता है। यह कार्य 'माया' के कार्य से विशिष्ट है–उसके कार्य से ठीक उलटा है। पुरुष से विविक्त रूप में यदि 'कला' का ज्ञान हो जाय तो 'कार्ममल' से (कर्म के बन्धन से) मुक्ति मिल जाती है–तब वह 'सकल' से 'विज्ञानाकल' की अवस्था में उठ जाता है–जहाँ वह 'माया' की पहुँच से परे चला जाता है–'विज्ञानाकल' वह व्यक्ति है जो माया से तो ऊपर है किन्तु शुद्ध विद्या से नीचे है जिसमें 'ज्ञान' तो है किन्तु 'कर्तृत्व' नहीं है। यह 'कार्य' और 'मायीय' मल से तो मुक्त हो जाता है किन्तु अभी 'आणव मल' से मुक्त नहीं है।

इस कला तत्त्व को क्षेमराज के शब्दों में कहा जाय तो यह यों है– "*कलयति, स्वरूपम् आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरिकलनमेव कला*" अर्थात् नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को –आत्मा को –परिमित रूप में प्रकट करती है।

अनेक सन्दर्भों में प्रयुक्त यह 'कला' शब्द भी एक उलझन पैदा करता है। एक 'कला' 'चतुःषष्टि' कला के सन्दर्भ का शब्द है जो कौशलपरक है। एक कला 'आर्ट' का रूपान्तर है। एक 'कला' शैवदर्शन में प्रयुक्त (संकुचित कर्तृत्व शक्ति) कला है। ऋग्वेद की एक ऋचा में भी 'कला' शब्द का प्रयोग मिलता है–"यथा कला यथा

शफमथ ऋणं" इत्यादि। डॉ. विश्वम्भरशरण पाठक 'शिल्प का शुभारंभ' शीर्षक व्याख्यान (वत्सलनिधि व्याख्यानमाला) में बताते हैं–'शफं ऋणं' का अर्थ 'जो त्रुटित भाग- उसे दूर दें–करते हुए यहाँ 'कला' का अर्थ 'जो त्रुटि भाग है–उसे दूर दें–करते हुए यहाँ 'कला' का प्रयोग 'कल्याणी' के अर्थ में किया है। इस प्रकार ईसा की प्रथम सदी के आसपास से 'कला' शब्द का प्रयोग 'सुन्दर' अर्थों मे मिलने लगता है। निरूक्तकार कहता है - *कल्याणि। कमनीयं भवति।* वैसे निरूक्तकार और सायण भी 'कला' का अर्थ 'खण्ड' ही बताते है। शैव परम्परा में भी 'कला' का अर्थ 'अंश' या खण्ड ही है। मोनियर विलियम और आप्टे के कोश में 'कल्' का अर्थ है–निर्माण करना, रचना करना, सम्पन्न करना। उपनिषत्कार ने 'पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला–" कह कर इन सबको तो 'कला' कहा ही है-'प्राची दिक्कला, दक्षिणदिक् कला–' कहकर दिशाओं को भी 'कला' कह दिया गया है। इन सबका योग ब्रह्म में निहित है। यानी एक तरफ 'सृष्टि' के इन खण्डों को 'कला' कहा गया और दूसरी ओर 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' द्वारा रम्य 'काव्य' भी कहा गया। जो भी हो मूलतः 'कला' शब्द अंश या खण्ड के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

इन विभिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त 'कला' शब्द के विभिन्न अर्थ किए गए हैं– कहीं 'खण्ड' कहीं 'संकुचित कर्तृत्व-शक्ति' और कहीं 'कौशल'। डॉ. के. सी. पाण्डे ने Indian Aesthatics पृष्ठ १ पर एक 'स्वतंत्र कला' की बात कही और यह भी कहा है कि यह वह कला है जो परब्रह्म को इन्द्रिग्राह्य रूप में प्रस्तुत करती है। प्रो.गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे ने भी अपने 'अभिनव-गुप्त' में इसे उद्धृत किया है और आगे कहा है–"कला की किसी रचना के साथ सौन्दर्यपरक सम्बन्ध अन्ततः ब्रह्म के अनुभव तक पहुँचा देती है (पृष्ठ ४९)।" 'संकुचित कर्तृत्वशक्ति' के अर्थ वाली 'कला' 'स्वतंत्र कला' तो नहीं हो सकती – अतः यह 'शक्ति' वह स्वतंत्र शक्ति नहीं है जो असीम को सीमा में उतार कर सुन्दर और अपेक्षाकृत स्थायी रूप दे देती है। शैवदर्शन में वह 'स्वतंत्र कला' या 'स्वतंत्र शक्ति' प्रतिभा ही है जिसे अभिनवगुप्त 'शिवा' कहकर वन्दनीय कहते हैं–

वन्देतां प्रतिभां शिवाम्

मम्मट ने भी 'कविभारती' को इसी की परिणति होने के कारण 'अनन्य परतंत्र' और 'नियतिकृत नियमरहित' कहा है।

प्रस्तुत प्रसंग में यानी 'कला की मूल्य दृष्टि' में प्रयुक्त 'कला' शब्द शिल्प, कौशल या अंश के भारतीय चिन्तनसम्मत अर्थ में तो नहीं प्रयुक्त है–विपरीत इसके ललित कलाकृति –साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और वास्तु - के अर्थ में ही प्रयुक्त है। बाण की 'कादम्बरी' में चलते ढंग से 'कला' के अन्तर्गत 'काव्य' की भी परिगणना क अवश्य कर दी गई है। वहाँ स्पष्ट ही 'कला' को 'कौशल' से व्यापक अर्थ दिया गया है। वाक्य इस प्रकार है-

"*तस्मिन् संचक्राम सकलः कलापः। तथापि-कथासु, नाटकेषु, आख्यायिकासु, काव्येषु - अन्येष्वपि कलाविशेषेषु परं कौशलमवाप।*" इस वाक्य में 'कला' में 'कौशल' की प्राप्ति कही गई है। यह अवश्य है भारतीय परम्परा में औसत मत के रूप में यह निष्कर्ष मान्य नहीं है। नाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' में अभिनव ने भी 'कला' का अर्थ 'गीतवाद्यादि' ही किया है- काव्य का समावेश नहीं किया है। वैसे अब डॉ. के. सी. पाण्डेय और पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी झुकाव 'कला' के कलाकृतिपरक आशय ग्रहण कर 'काव्य' का भी उसमें समावेश हो-ऐसा अभीष्ट जान पड़ता है। ठाकुर जयदेव सिंह ने भारतीय संस्कृति में ललित कला का महत्त्व शीर्षक अपनी पुस्तक में ललित कला को पश्चिमी चिन्तन से ही जोड़ कर भारतीय संस्कृति में उसका महत्त्व बताया है। 'कला का' तात्पर्य पश्चिमी चिन्तकों के विचारों के क्रम में ही स्पष्ट किया है और उसे कलाकृतिपरक मानते हुए सुन्दर से सम्बन्ध किया है। फिर सुन्दर का भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में ब्रह्म या परासत्ता से जोड़ कर उसका मूल्य या महत्त्व निरूपित किया है। भारतीय परम्परा में शब्द-ब्रह्म, नादब्रह्म और वास्तु-ब्रह्म-कहकर तीन को तो स्पष्ट ही ब्रह्म से जोड़ दिया है, चित्र और मूर्ति में तो इस सीमा में लाया ही जाता है। ये सीमाएं प्रतीक बन कर असीम का संकेत देती हैं।

इस प्रकार इस विवेचन के आलोक में मान्यता यह बनती है कि अब 'कला' शब्द अपने अर्थ-विकास में अनेक स्तरों को पार करता हुआ 'कलाकृति' के अर्थ में प्रचलित हो गया है–प्रचलन में चिन्तकों द्वारा स्वीकृत कर लिया गया है। जहाँ तक उसकी 'मूल्य-दृष्टि' का सम्बन्ध है– हमारी चेतनाद्वैतवादी (शक्तिवादी) प्रतिनिधि भारतीय सांस्कृतिक धारा में उसकी मूल्यवत्ता हमें 'मूल' से जोड़ने की प्रक्रिया में निहित है–निःसीम आनन्द राशि में निमग्नकारिता में विद्यमान है। आजकल 'विलयन' की जगह 'विलगाव' का और निखालिस आनन्द की जगह तलस्पर्शी निबिड़ वेदना और बेचैनी की आवाज भी सुनाई पड़ती है। जहाँ तक तलवर्ती वेदना का सम्बन्ध

है - यह उसी ब्रह्म के अभाव बोध से सम्बद्ध है – हाँ,'विलगाव' की मनोदशा की पक्षधरता के पीछे अभारतीय जीवन और चिन्तनधारा है– यह 'बुद्धिवाद' की अनिवार्य परिणति है जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी की अंगुली पकड़ कर हमें उस ओर ले जा रही है। 'बुद्धि' से ऊपर 'प्रतिभा' (हृदय) का महत्त्व स्वीकार करने वाली भारतीय सांस्कृतिक धारा 'विलयन' का ही पक्षधर है। 'विसर्जन' ही सर्जनात्मक कलाकृतियों की मूल्यवत्ता निर्धारित करता है–विघटक अहं का विसर्जन।

अभिनवगुप्त : सौन्दर्यानुभूति और उसकी समरूपता

महामाहेश्वर अभिनव गुप्त पादाचार्य में दुर्वासा-शिष्य त्र्यम्बक द्वारा प्रवर्तित अद्वैत तन्त्र की कई शाखाएँ- स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा, क्रमतो संक्रान्त हैं ही, अर्द्ध-त्र्यम्बक सम्प्रदाय प्रवर्तित कौल-प्रस्थान भी प्रतिफलित है। अद्वैत तन्त्र की ये सभी शाखाएँ परम तत्त्व की अवधारणा के विषय में एकमत हैं, अन्तर उनके 'मार्ग' में है। अभिनव ने इन सबका अध्ययन और अभ्यास किया था, अतः इन्हें समन्वित करके एक सर्वस्वीकृत दर्शन का रूप देने में वे सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे। तन्त्रालोक में उन्होंने यही किया है। यो सामान्यतः उनकी 'दृष्टि' को 'प्रत्यभिज्ञा' परक कहा जा सकता है। 'सौन्दर्य' के विवेचन में यहाँ उनकी इसी 'दृष्टि' को केन्द्र में रखकर विवेचन किया जा रहा है। 'दृष्टि' ही वह 'बीज' है जिसमें सर्वविध विकास सम्भावना के रूप में निहित रहता है।

उनकी दृष्टि में अद्वयात्मा विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वात्मा भी। विश्वात्मा 'प्रकाश-विमर्श' मय[११] है; उसकी यही स्थिति और प्रकाशकों से उसे विशिष्ट बनाती है। प्रकाशकता तो दर्पण, स्फटिक आदि में भी है पर विमर्शात्मक सामर्थ्य उनमें नहीं है। इसीलिए केवल वही 'प्रकाशन' में 'स्वातन्त्र्य' सम्पन्न है। अन्तः स्थित 'विश्व' का प्रकाशात्मक दर्पण में स्वातन्त्र्यवश आभास होता है। जो 'चमत्कार' सौन्दर्य का प्राण है, वह इसी के अखण्ड अपरोक्षीकार या प्रत्यभिज्ञान से होता है। इसकी विस्मयावह प्रतीति ही 'चमत्' संज्ञा से अभिहित होती है, 'कार' तो प्रत्यय की भाँति लगा हुआ है। इस शास्त्र में आत्मप्रत्यभिज्ञान अद्भुत आस्वादमय है- रसात्मक है- जो विभिन्न भूमियों में विभिन्न रूप से प्रतीतिगोचर होता है। आनन्द चाहे किसी भूमि का हो, पर पूर्णता परामर्श सर्वत्र होगा। आनन्द चाहे किसी भूमि का हो, काव्योचित साधारणीकृत भावभूमि का हो अथवा स्वरूपप्रधान की भूमि का हो -

'पूर्णता परामर्श' सर्वत्र मूल आधार होगा। इसी आनन्द के आभोग में भारत में 'सौन्दर्य' का विचार किया गया है– किया जा सकता है। सामान्य-सी-धारणा है कि सुन्दर वह है जो रस दे, आनन्द दे, अच्छा लगे, भिगो दे। 'सुन्दर' का व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ भी इसी पक्ष पर बल देता है। क्लेदनार्थक उन्दी धातु से निष्पन्न 'सुन्दर' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्लिन्न कर देने वाला पदार्थ ही है : जो अपने स्वरूप से द्रष्टा या श्रोता को भिगो दे- रसमग्न कर दे- वही सुन्दर है। 'पूर्णता परामर्श' की शर्त पर 'सौन्दर्य' की प्रतीति लोक से अध्यात्म तक प्रसृत है - काव्य और कला तो बीच में हैं ही। प्रस्तुत सन्दर्भ जिस भूमि के सौन्दर्य पर केन्द्रित होने को संकल्पित है, वह है कलाकार (व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक) और कला समीक्षक के क्षेत्र या भूमि का सौन्दर्य।

चारुता, रमणीयता या सौन्दर्य की अनुभूति इस प्रकान्त सन्दर्भ में काव्य और कला की अनुभूति है। वैषयिक सौन्दर्यानुभूति व्यक्तिगत स्तर की व्यक्तिमात्र वेद्य होती है, कलाजगत् की सौन्दर्यानुभूति अ-व्यक्तिगत होती है; वहाँ 'सामग्री' और 'चेतना' दोनों साधारणीकृत होते हैं, किंवा सौन्दर्यानुभूति के क्षण में चेतना की तदाकार परिणति हो जाती है, चेतना में वेद्यान्तर का सम्पर्क लेश होता ही नहीं। इसी को 'तन्मयीभवन' की स्थिति भी कहा जा सकता है। फलतः सौन्दर्यानुभूति में सामग्री और चेतना का अन्तर और बाह्य का भेद तिरोहित हो जाता है; द्वयात्मक अद्वय की स्थिति हो जाती है।

'तन्मयीभवन' की व्याख्या वेदान्त भी करता है और आगमिक प्रत्यभिज्ञा भी, पर दोनों में अन्तर है। शांकर अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया तैजस द्रवात्मक अन्तःकरण विषय-देश में जाकर तदाकार परिणति लेता है। प्रत्यक्षत्व ज्ञानगत भी है और विषयगत भी। ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है प्रमाण-चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभेद। इनके यहाँ चैतन्य की त्रिविध स्थिति है - विषयावच्छिन्न, वृत्यवच्छिन्न तथा अन्तःकरणावच्छिन्न - जो क्रमशः विषय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य तथा प्रमातृ चैतन्य की संज्ञाओं से अभिहित होते हैं। जिस प्रकार तड़ाग का उदक प्रणालिका द्वारा बाहर निकलकर क्षेत्राकार परिणति पा लेता है ठीक उसी प्रकार तैजस अन्तःकरण भी इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा बाहर निकलकर विषयाकार परिणति ले लेता है। विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होगा विषयावच्छिन्न विषय चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का अभेद। उक्ताकार परिणति ही 'वृत्ति' है। यही विषय और चैतन्य (प्रकाशक) के

बीच पड़े हुए आवरण को भग्न कर देती है। फलतः प्रकाश्य प्रकाशित हो जाता है।[१२]

प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया भिन्न है। प्रकाश्य और प्रकाशक का निरावृत सम्बन्ध तो होता ही है, पर एकत्र प्रकाशक प्रकाश्य का आकार ग्रहण करता है जबकि अन्यत्र प्रकाश्य ही प्रकाशात्मना परिणत हो जाता है। शांकर वेदान्त में चित्त की विषयाकार परिणति होती है और फिर विषयावच्छिन्न तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के एकाकार होने से प्रत्यक्ष होता है। यहाँ विषय का ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मनःपटल पर प्रतिफलन होता है जो मन या चित्त चित् का ही संकुचित रूप है। अन्ततः इस प्रकार के चित्त को चित् रूप करता हुआ संवित् चैतन्य आत्म प्रसार कर लेता है; संकोच हट जाता है। इस प्रकार विषय या प्रकाश्य प्रकाशात्म हो जाता है। चित्त को आत्मरूप करता हुआ संवित् चैतन्य व्यापक हो जाता है; विषय को आत्मरूप करके ही उसका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार यहाँ विषय का साक्षात्कार संवित् की व्याप्ति का विकास है। अभिनव गुप्त स्पष्ट कहते हैं :

तथा च घटो मम स्फुरति-इति कोऽर्थः? मदीयं स्फुरणं
स्पन्दनमाविष्टः तद्रूपतामापन्न एव, चिन्मयत्वत्।[१३]

भास्कर कण्ठ ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है :

ग्रहण समये भावस्य मायया भावत्वेन भासितं निजं सहज
शुद्ध प्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटी-भवति,
यतः तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रतिदिदृक्षा समये व्यापकी
भवति। तदुक्तम् :
दिदृक्षयेव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभीत्स्यते॥
व्यापकीभवनंच तद् वस्तु स्वात्मसात् करोति-
तन्मयीभावासादनंच वस्तुतः शुद्ध प्रकाश मात्र रूपत्वात्[१४]

इन वक्तव्यों के आलोक में स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष या तन्मयीभावासादन का अर्थ है - स्वरूप (संवित) के ही रूप में बोध।

इसी तन्मयीभवन के अनन्तर आता है आस्वाद या रसास्वाद। अभिनव गुप्त ने ही रचना प्रक्रिया पर प्रकाश विकीर्ण करते हुए कहा है:

अनुभावविभावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तत्
विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरंजित
स्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा ॥[९५]

अर्थात विभावादि सामग्री का बोध, उसके कारण, हृदय संवाद (रचयिता और भावक का) संवादवश तन्मयीभाव और फिर विभावानुभावोचित चित्तवृत्ति की वासना से अनुरंजित स्वसंविदानन्द की चर्वणा; इसी चर्वणागोचर अर्थ को रस कहा जाता है। यह प्रतीती लौकिक अनुभव तथा स्मृति आदि से भिन्न सरणि की प्रतीति है; फलतः लोकोत्तर है। इस प्रतीति में सप्तविध विघ्नों में से कोई विघ्न नहीं है। यह स्थायी विलक्षण, वीतविघ्न लोकोत्तर प्रतीति है - रस है। प्रेक्षागृह में स्थित चिदात्माओं के पारस्परिक प्रतिफलन से वह महासागरायमाण हो उठती है - वेद्यान्तर बोध विगलित हो जाता है। बाहर-भीतर सर्वतोदिक् उफान आ जाता है।

सौन्दर्यानुभूति के सन्दर्भ में रसानुभूति की भूमिका इसलिए दी गयी है कि उसी के आक्रोड में 'सौन्दर्य' या 'सौन्दर्यानुभूति' का विचार समुचित है। चाहे रचयिता हो, सूत्रधार हो, अभिनेता हो या सहृदय ग्राहक - सभी कलात्मक अभिव्यक्ति, मंचीय प्रस्तुति तथा आस्वाद का ग्रहण समाधिस्य हुए बिना कर ही नहीं सकते इसीलिए अभिनवभारती में अभिनव गुप्त कहते हैं :

अतो व्याख्यातृनटसामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव रसस्यैव प्राधान्यम् ॥ [९६]

अर्थात व्याख्याता (आलोचक) नट या प्रस्तोता तथा ग्राहक सामाजिक - सभी के सन्दर्भ में रस ही महत्व की वस्तु है जो भारतीय परम्परा में मुख्यतः नाट्य के क्षेत्र का है। इसीलिए अभिनव गुप्त कहते हैंः

रससमुदायो हि नाट्यम्, नाट्यमेव रसः[९७]

रस के विषय में यह ध्यान रखने की बात है कि रस-विधायक तत्त्व प्रकृति से नहीं, कलाकार की प्रतिभा से व्यक्त होते हैं। कुन्तक के अनुसार भी लोकोत्तर आह्लाद (रस) को अनुभवगोचर कराने का दायित्व जिस 'वैचित्र्य' (स्वभाव) पर समाधृत है वह प्रतिभा का ही प्रसव है।[९८] इसीलिए उसे कलाकार की प्रातिभ चेतना से ही जोड़ा गया है। रस का फल जिस भाव-बीज से उभरता है, उसके विषय में कहा गया है प्रकृति के नहीं, कवि के अन्तर्गत जो साधारणीभूत भावात्मक संविद् बीज रूप में विद्यमान है, उसी का भावन करता हुआ 'भाव' भाव कहा जाता है। नाट्य इसी भाव का अनुकीर्तन है।[९९/१००] अभिनव इसे 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। अनुभूत

की ऐसी अनुभूति कहते हैं जिसमें पूर्णता का विमर्श अनुस्यूत है। कला की सृष्टि न प्राकृत यथार्थ है न आकाशकुसुम की भाँति मिथ्या है और न ही भ्रम की तरह अन्यथा (बाधित होने वाली) प्रतीति है। यह चमत्कार प्राण है, भोगात्मा तथा स्पन्द स्वभाव है। कला जगत का यह अनुभव ऐन्द्रिय - चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय - स्तर से होता है और साधारणीकृत भावभूमि के स्तर से गुज़रता हुआ 'पूर्णता परामर्श' तक चला जाता है। इस प्रकार नाट्य के सन्दर्भ में रस और 'रस ' के सन्दर्भ में सुन्दर वस्तु, सौन्दर्य या सौन्दर्यानुभूति का प्रसंग उभरता है। प्रातिभ प्रसूति होकर ही दृश्य - नाट्य, चित्र, मूर्ति - व श्रव्य संगीत और श्रव्य काव्य - आनन्द में डुबो देते हैं; फलतः 'सुन्दर' कहे जाते हैं। इसीलिए अभिनव कहते हैं :

दृश्यं श्रव्यं चैत्येकवचनेन सर्वसाधारणतयैव यद् भोग्यम्।
तच्च स्पृश्यादिरूप न भवति। दृश्यश्रव्ययोस्तु बहुतरसाधारण्योपपत्तिः।[१०१]

कला के क्षेत्र में दो ही ऐसी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो सौन्दर्यानुभूति द्वारा रसमग्न करती हैं। घ्राण, रसना और त्वागिन्द्रिय में आस्वाद की बहुतरगोचर कराने की क्षमता नहीं है - वह अपने अनुभव को व्यक्ति तक सीमित कर देती है। यह सौन्दर्य केवल इन्द्रियार्थक नहीं है, यह 'पूर्णता-परामर्श' तक ले जाता है। इसीलिए सुन्दर है। वास्तविक सुन्दर वस्तु दर्शक की ज्ञानेन्द्रियों को उत्प्रेरित करती हुई उसकी कल्पना या प्रातिभ क्षमता को दीप्त करती है। ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत स्तर पहला स्तर है, तदन्तर दीप्त प्रतिभा उसे असाधारण बारीकियों से मण्डित कर देती है, सौन्दर्यानुभव का यही दूसरा स्तर है। इससे भाव जाग्रत होता है जो साधारणीकृत होकर आस्वादयिता को विश्वात्मक से विश्वातीत स्तर तक पहुँचा देता है। यहाँ विश्वप्रमाता विश्वप्रमेय के ठीक सामने रहता है, रसानुभव और आगे जाता है जहाँ विषय या प्रमेय अवचेतन में लीन हो जाता है और संवित् आत्म-विश्रान्त हो जाती है। प्रकाशांश वेद्य विश्रान्त रहता है। रस आस्वाद्य भी है और आस्वाद (रसनं रसः) भी। जहाँ वह आस्वाद्य है वहाँ स्थायी उद्रिक्त है, पर जहाँ वह भाव अवचेतन में लीन है, वह स्वात्मविश्रान्त है- निरवच्छिन्न स्वात्म परामर्श है।

डॉ. कान्तिचद्र पाण्डेय ने कहा है : "सौन्दर्यशास्त्र स्वतन्त्र कला का विज्ञान एवं दर्शन है और स्वतन्त्र कला वह है जो परब्रह्म को इन्द्रिय ग्राह्य[१०२] रूप से प्रस्तुत करती है।" इस प्रकार कला असीम को सीमा में लाकर आपेक्षिक स्थायित्व दे देती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्य काव्य में 'रस' की व्यवस्थित स्थिति प्रतिष्ठित थी, श्रव्य के क्षेत्र में सामग्री का वैसी सुसंश्लिष्ट, चतुरस्र तथा व्यवस्थिति योजना कैसे सम्भव है? वहाँ शिथिल कथावस्तु रहती है, प्रबन्ध के अतिरिक्त मुक्तक में भी रस का विधान है, जहाँ केवल एकांगी सामग्री ही सम्भव है। फिर श्रव्य-काव्य में रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावशबलता का भी विधान है, जहाँ 'रस' की वह चतुरस्र व्यवस्था नहीं है। वहाँ 'रस' शब्द का प्रयोग पर्याप्त व्यापक अर्थ में है। ध्वन्यालोककार ने कहा है कि परिणत-प्रज्ञ रचनाकार की प्रवृत्ति रसमग्न मानसिकता की ही अभिव्यक्ति में होती है। ऐसी स्थिति में वह ऐसी सामग्री का विनियोग काव्य में करेगा ही क्यों जो ग्राहक में कोई चित्तवृत्ति ही न पैदा करे, प्रभाव ही न पैदा करे? ये ही चित्तवृत्तियाँ या प्रभाव 'रस' हैं। 'रस' की यह व्यापकतम भाव-धारणा श्रव्य और दृश्य-उभयत्र 'रस' की प्रतिपादता सिद्ध करने के लिए है और ऐसा करने के पीछे उनका तत्त्वदर्शन है। तत्त्वदर्शन है सर्वथा 'स्वरूप-बोध' पर्यवसायी प्राणीमात्र की ज्ञात-अज्ञात बोध से प्रेरित प्रवृत्ति। प्राणीमात्र सुख चाहता है, ऐसा सुख जो अविनश्वर हो, पर अज्ञानोपहत प्राणी संकोचग्रस्त अनात्म की ओर अतृप्त वासनाओं की पूर्ति के लिए मुड़ जाता है, फलतः लक्ष्य (स्वरूप-बोध) की ओर जाने वाले मार्ग से विपरीत (अनात्म या संकोचग्रस्त स्वरूप की ओर) चल पड़ता है। इच्छा अनुभूत की ही होती है, अननुभूत की नहीं। जब ऐसे अविनश्वर सुख की इच्छा अनुभव-सिद्ध है तो कल्पना करनी पड़ती है कि प्राणियों को कभी-न-कभी वह सुख अनुभवगोचर हुआ होगा। सीमा में बँधे प्राणी को स्वरूप विस्मृत है, अतः भीतर चाह उसकी है, प्रयत्न अन्यथा है। अस्तु, प्रसंग यह है कि 'दृश्य' में 'रस' की चतुरस्र प्रतिष्ठा है पर श्रव्य में वह सर्वत्र सम्भव नहीं है। यही कारण है कि रस को सर्वोपरि महत्व न देने वाले प्राग्ध्वनि साहित्य प्रस्थान के आचार्य 'सौन्दर्य' की बात सीधे आरम्भ कर देते हैं। अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि बाहरी-शारीरिक सौन्दर्य तक ही जाती है। यही कारण है कि वे शब्दार्थ (वाचाकलक्षक-वाच्यलक्ष्य) स्वरूप काव्य के देह में ही 'सौन्दर्य' और सौन्दर्य-साधन की बात करते हैं। अलंकारवादी और रीतिवादी भामह-वामन प्रभृति देह पर ही सौन्दर्य की स्थिति मानते हैं और उसका साधन भी देह पर स्थित अलंकार तथा 'गुण' को मान लेते हैं। ध्वनिवादी कश्मीरी आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके टीकाकार 'लोचन' कार अभिनव गुप्त दोनों ने 'सौन्दर्य' या चारुता विषयक उक्त धारणा का खण्डन किया और उसका सम्बन्ध आत्मस्थानीय 'ध्वनित

रस' से जोड़ा और बताया कि सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति के सन्दर्भ में ही होती है। सीधी सी बात है कि जो 'रस' देगा, वही सुन्दर होगा; रसनिरपेक्ष सौन्दर्य की परिकल्पना अतर्कसंगत है। देहवादी आचार्यों* ने काव्य का सर्वस्व 'रस' की जगह 'चारुता' को ही केन्द्र में रखा है। उनकी दृढ़ धारणा थी कि शब्दार्थ में अतिशय का आधायक 'वक्रता' है, उसके बिना 'अलंकार' नहीं और अलंकार के बिना वह 'सौन्दर्य' नहीं जो काव्य का केन्द्रीय तत्त्व है। इन लोगों को 'निसर्गकान्त' देह भी तब तक सुन्दर नहीं लगती, जब तक 'अलंकार' न हो :

न कान्तमपि निर्मूलं विभाति वनिताननम्।[१०३]

वामन ने भी कहा- '*सौन्दर्यमलङ्कार :*'[१०४] -सौन्दर्य अलंकरण परस्पर पर्याय हैं। पर उन्होंने तीन सौन्दर्य स्रोतों - दोषाभाव, अलंकार तथा गुण में प्रमुखता दी 'गुण' को। गुण का कविता के शरीर में वही स्थान है जो मानव शरीर में, कामिनी शरीर में, यौवन नामक गुण का। इस गुण का होना 'सौन्दर्य' का प्रमुख और प्राथमिक स्रोत है। 'अलंकार' बाद की वस्तु है। इन लोगों की मान्यताओं को पूर्वपक्ष में रखते हुए लोचनकार अभिनव गुप्त ने बताया कि वे लोग जिस चारुता या सौन्दर्य को काव्य का केन्द्रीय तत्त्व मानते हैं वह दो प्रकार का है - स्वरूपनिष्ठ और संघटनानिष्ठ। स्वरूपनिष्ठ सौन्दर्य स्रोत अलंकार है और संघटनानिष्ठ सौन्दर्य स्रोत 'गुण' है। अभिनव ने भी "चारुत्व प्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा"[१०५] कहते हुए 'चारुता' को काव्य का केन्द्रीय तत्त्व कहा, पर उसे न शरीराश्रित माना और न ही शरीर पर रहने वाले अलंकार तथा गुण से प्रसूत। उन्होंने आनन्दवर्धन का समर्थन करते हुए चारुता या लावण्य को अंगाश्रित कहकर भी अंगों से भिन्न कहा। उन्होंने बताया कि लावण्य या चारुता का स्रोत वाच्य-लक्ष्य तथा वाचक-लक्षक जैसे उपरितलीय अर्थों से भिन्न साररूप कोई और ही अर्थ है जिसे सहृदय-श्लाघ्य कहा जाता है। विवेक यही कहता है कि शरीर के अवयवों पर दृष्टिगोचर होने वाला लावण्य वस्तुतः न केवल उससे भिन्न है प्रत्युत किसी सारभूत अर्थ-अतिरिक्त अर्थ - से अस्तित्व में आता है। अभिनव कहते हैं:

लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यंग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव[१०६]

वह शरीर का धर्म नहीं है बल्कि कुछ और ही है जिसका उत्स 'प्रतीयमान'

---

* "वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिका वाचामलङ्कृतिः" काव्यालंकार-भामह

अर्थ के मार्ग से चलते हुए ध्वनित रस ही अन्ततः ठहरता है। अभिनव कहते है :

तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा
रसं प्रति पर्यवस्येते-इति वाच्यादुत्कृष्टौतावित्यभिप्रायेण
'ध्वनिः काव्यस्यात्मा' इति सम्मान्येनोक्तम्।[१०७]

अर्थात् काव्य की आत्मा तो तत्त्वतः रस ही है, वस्तु और अलंकार-ध्वनि का पर्यवसान रस में ही होता है, इसलिए वाच्य अर्थ से उत्कृष्ट होने के कारण सामान्यतः ध्वनि को काव्य की आत्मा कह दिया गया है। जो लोग 'चारुत्व-प्रतीति'[१०८] को काव्य की आत्मा कहते हैं, अभिनव उनसे सहमत हैं पर इसे वे केवल 'नाम' का विवाद मानते हैं, बात वही है जो ऊपर कही जा रही है। सौन्दर्य और रस इस प्रकार अविच्छेद्य हैं कि एक की चर्चा दूसरे की चर्चा हो जाती है। कला हमें 'पूर्ण सौन्दर्य' या 'पूर्ण रस' तक पहुँचा देती है परन्तु सामग्री की प्रतीति जितनी अवधि तक रहती है वह प्रतीति भी उतनी अवधि तक ही रहती है। कहा गया है :

विभावादिजीवितावधिः रसः[१०९]

'सौन्दर्य' या 'रस' योगदशा में पूर्ण अनुभवगोचर था, वियोग दशा में अस्पष्ट या धुँधले रूप में सामान्यतः प्रतीत होता है। वेदान्त की भाषा में कहें तो कह सकते है कि खण्ड सौन्दर्य वृत्तिवेद्य है और अखण्ड सौन्दर्य स्वयंवेद्य है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य रस को 'अनन्तःकरण वृत्ति' रूप कहा है।

यहाँ आकर कई सवाल खड़े होते हैं - एक तो यह कि यह सौन्दर्य रहता कहाँ है? दूसरा खण्ड या अखण्ड सौन्दर्य प्रतीति क्या है? द्वयात्मक अद्वयवादी अभिनव अन्ततः संवित् को ही पूर्ण सुन्दर मानते हैं। व्यवहार दशा में संकोच के कारण एक तो वह 'अस्पष्ट' और दूसरे 'खण्ड' रूप में अनुभवगोचर होती है। 'अस्पष्ट' कहने से 'खण्ड' और 'अखण्ड' की अद्वयता सिद्ध होती है। खण्ड सौन्दर्य देशकाल की सीमा का सौन्दर्य है जो निरन्तर अपनी प्यास जगाता ही रहता है। 'खण्ड सौन्दर्य' का आशय यह है कि जब हम किसी विशिष्ट (आनन्ददायक) वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तब वस्तु हमारे चित्त में स्थित आवरण को धक्का देकर थोड़ा-बहुत हटा देती है। चित्त पूर्ण सौन्दर्यावभासमय है किन्तु यह अवभास आवरण से ढँका होने के कारण 'अस्पष्ट' है। पर सर्वथा ढँका ही हो, ऐसा नहीं है और न हो सकता है। आवरण के हटने से जो स्पष्टता दिखती है वह किंचित (खण्ड) हैः एक देश है। आवरण भंग के तारतम्य से उसकी प्रतीति में तारतम्य होता है।

यह सौन्दर्य दृश्य में है या द्रष्टा में? यदि गुलाब का सौन्दर्य दृश्य गुलाब में ही होता तो सभी को उसकी सुन्दरता एकरस दिखती, पर ऐसा नहीं होता। यदि आत्मगत होती तो सर्वत्र दिखती। सौन्दर्य के अनुभव के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है जब वृत्ति द्वारा वह वेद्य होता है तब खण्डित और अस्पष्ट है; दूसरी ओर वह अखण्ड और पूर्ण रूप से हमारी संवित् में ही है किंवा वही है। स्पष्ट पर खण्ड सौन्दर्य गुलाब में (दृश्यगत) है- अखण्ड और पूर्ण सौन्दर्य अहमर्थ संवित् में है। यथार्थ सौन्दर्य-स्फूर्ति या रस-स्फूर्ति में ऐसा नहीं होता; तब सौन्दर्य न द्रष्टा में रहता है और न ही गुलाब में। तब द्रष्टा और दृश्य (गुलाब) एकरस या साम्यावस्थापन्न हो जाते हैं; तब केवल सौन्दर्य ही -स्वप्रकाशमान सौन्दर्य ही - रहता है। तदतिरिक्त की प्रतीति रहती ही नहीं। यही पूर्ण सौन्दर्य है। अभिनव मानते हैं कि इस सौन्दर्यानुभूति में भोक्ता और भोग्य दोनों ही नित्य सम्भोग रूप से विराजमान रहते हैं। भोक्ता जब भोग्य के साथ एकीभूत हो जाता है तब उस एकीभाव को 'भोग' कहते है- वह मोक्ष भी है।

प्रबोध पंचदशिका में कहा गया है:

तस्याः भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एव सः।
स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्॥ ११०

भोक्ता और भोग्य मानो स्वसंवेद्यमान सम्भोग में एकाकार होकर स्थित रहते हैं। परन्तु इस अवस्था में चिरकाल तक स्थिति नहीं होती, 'भाव' की भूमि के हटते ही पूर्ववर्ती अवस्था लौट आती है। योग के बाद फिर वियोग आ जाता है। इस 'दृष्टि' में सौन्दर्य सर्वत्र है, सभी वस्तुएँ सुन्दर हैं, सभी रसमय हैं किन्तु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय वह अनुभूत नहीं होता, विपरीत इसके सुख-दुःख में विभक्त हो जाता है; हम नियम के जगत में उतर आते हैं; श्रेय-प्रेय, पाप-पुण्य, राग-द्वेष की सम्भावना फूट पड़ती है।

इस प्रकार रस के आभोग में सौन्दर्य-वैषयिक, कलात्मक तथा पूर्ण-का विचार कर लेने के बाद यह देखना चाहिए कि वह सौन्दर्य या रस, कलाकार तथा उसके समीक्षक में किस तरह से हैं, उसमें समरूपता क्या है? अभिनव गुप्त क्या कहते हैं:

अभिनव गुप्त ने सौन्दर्य से अविश्लेष्य 'रस' का विचार तीन सन्दर्भों में किया है - स्वयं कवि या कलाकारगत, उसकी रचना प्रक्रियागत और ग्राहक सामाजिक गत। कविगत रस को वे बीजस्थानीय कहते हैं :

कविगतो रसः बीजस्थानीयः ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्।
तत्र पुष्पादि स्थानीयोऽभिनयादिनट व्यापारः।
तत्र फलस्थानीयः सामाजिक रसास्वादः।
कविगत साधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नट व्यापारः।[१११]

अर्थात रचनाकार में भी 'रस' है जो बीजस्थानीय है। कवि शिक्षा में जो 'अभ्यास' की बात कही गयी है उसमें और सब तो है ही, काव्य, शास्त्र तथा लोक आदि का अवेक्षण, उसके आगे यह भी है कि रचनाकार में यह भी क्षमता होनी चाहिए कि कवनीय अनुरूप परिस्थितियों की कल्पना करके तद्नुरूप सर्जनात्मक अनुभूति में डूब जाये, तभी वह 'डूब' कर लिख सकता है, समाधिस्थ हो कर लिख सकता है। आर्ष कवि की बात अलग है; वह आर्ष-चक्षु से राम आदि की प्रातिस्विक अवस्था को साक्षात्कृत करता है; पर अनार्ष कवि वैसा नहीं होता, वैसे वह 'प्रतिभा' जो भूत-भविष्य, व्यवहित और विप्रकृष्ट को 'वर्तमान' और 'सन्निहित' कर देती है- वह अभ्यासवश या निसर्गतः इसमें भी हो सकती है। दशरूपककार ने काव्य में उपनिबद्ध होने वाली अवस्था को "स्वोत्प्रेक्षाकृत सन्निधीः"[११२] कहा है- वह उत्प्रेक्षा, कल्पना या अपनी प्रातिभ सामर्थ्य से रचना कर भीतर मूर्त कर लेता है। तदनुरूप साधारणीकृत संवित् उसमें व्यक्त हो जाती है, उसे ही वह 'पात्र' में ढालता है। इस प्रकार रसानुभूति या उस आवेश में सौन्दर्यानुभूति उसे भी होती है।

पात्र, नट या अभिनेता उस आत्मगत सर्जनात्मक अनुभूति को अभिनय द्वारा सामाजिक या कला-समीक्षक तक पहुँचाता है। श्रव्य काव्य में काव्य सामग्री पाठक के प्रातिभ पटल पर नाट्यायमान और मंच पर प्रस्तुत होकर सामाजिक या रसयिता तक पहुँचती है। कविगत 'रस' है पर प्रचलन में उसे 'रसयिता' नहीं कहा जा सकता, 'सम्प्रेषक' कहा जाता है। शायद यह कविकर्म की प्रमुखता के कारण है। उसका मुख्य कर्म 'सम्प्रेषण' है, आस्वादन नहीं। प्रयोग में आता है कि कवि डूब कर लिखता है, इस 'डूबने' का आशय क्या है? ठीक ही है जब स्वयं ही नहीं डूबेगा तो दूसरे को क्या डुबाएगा? यह 'डूबना' सीमा का असीम से जुड़ना है - उनके बीच के व्यवधान का हटना है - तभी उसमें सम्प्रेषणार्थ 'तनाव' भी है और सम्प्रेषणानुभव में 'आनन्द' भी है। यह 'तनाव' आस्वादयिता में नहीं है।

कविकर्म या रचना-प्रक्रिया का विवरण देते हुए अभिनव कहते हैं-

स एव तथाभूत विभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभाव चर्वणया हृदयसंवादतन्मयी-

भवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः, करुणरसरुपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवत् चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाव-वाग्विलापादिवत् च समयानऽपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यंजकत्वात इति नयेनाकृतकतयैवा-वेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रित श्लोकरूपतां प्राप्तः। [११३]

इस लम्बे उद्धरण में अभिनव कवि-कर्म के रूप में स्थायी की रसात्मक आस्वाद्यमानता की बात कह रहे हैं, कविगत रस्यमानता पर स्वीकृति दे रहे हैं, पर उसकी मानसिक एकाग्रता या तनाव 'सम्प्रेषण' पर ही रहता है, हाँ प्रतिभा शिव के प्रति पूर्ण समर्पण होने पर आवेशवश यह सब कुछ स्वंय भी सम्पन्न हो जाता है।

ठीक यही बात अभिनेता, नट या पात्र के सम्बन्ध में भी रचनाकारों और आचार्यों ने कही है। कविवर कालिदास भी कहते हैं मालविकाग्निमित्रम् में -

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः।
पादन्यासोलमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु॥
शाखायोनिर्मुदुरभिनयस्तद् विकल्पानुवृत्ती।
भावो भावंनुदति विषयाद् रागबन्धः स एव॥ [११४]

सन्दर्भ नृत्य-कला का है। मालविका की नृत्य-कला की प्रशंसा करती हुई निर्णायक परिव्राजिका कहती है- "गीत की सब बातों के ठीक-ठीक अर्थ को अंगों के अभिनय से भली भाँति दिखला दिया गया है। इसके पैर भी लय के साथ-साथ चल रहे थे फिर गीत के रस में भी वह तन्मय हो गयी थी। इसके नृत्य ने अपनी रंजनात्मकता में मुझ जैसे ग्राहक को इस कदर बाँध लिया कि ताल के साथ चलने वाले अनेक प्रकार से अंग संचालन कर विषयान्तर को चित्त में आने ही नहीं दिया, दर्शक विगलित वेद्यान्तर हो उठे।" - यही तो रागबन्ध है, रंजनात्मकता में बँधना है। यहाँ भावाभिनय में समाहित नर्तकी 'तन्मयत्वं रसेषु' में भी स्थित है। नृत्यकला के प्रदर्शन के साथ-साथ रसमान भी है। निष्कर्ष यह कि इस स्थापना को कवि से ही नहीं, कलाकार नट से भी जोड़ा जा सकता है। कलाकार दोनों ही है। उच्चकोटि की कलात्मक सर्जना विलयन या विसर्जन माँगती है न कि विलगाव या तटस्थता। नट को पात्र कहकर जहाँ एक ओर उसे रसाश्रय कहा जा रहा है वहीं दूसरी ओर अचेतन होने के कारण अ-रसयिता भी, पर कालिदास कहते हैं कि वह प्रस्तुति रसमग्न होकर करता है। अभिनव भी कह ही चुके हैं- "पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादि व्यापारः" - यह रसयात्रा वृत्तात्मक है : कवि-नट-सामाजिक (आलोचक)।

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानानुभवस्ततः[११५]

कला का आस्वादयिता सहृदय सामाजिक है। ऊपर कहा जा चुका है कि आनन्द चाहे जिस कोटि का हो 'पूर्णता परामर्श' वश संवित् विश्रान्ति सर्वसाधारण है। अभिनव कहते हैं:

स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्ण निजस्वभाव प्रकाशनमेव
परामर्शष्यतां दधदानन्द इत्युचते।[११६]

यही संविद्विश्रान्ति जब भावों की भूमिका में आत्मपरामर्शवश होती है तब वह काव्यरस कहा जाता है। यहाँ भाव की भूमिका का तात्पर्य है - साधारणीकृत भाव की भूमिका में। अभिनव रसानुभूति का मुख्य क्षेत्र नाट्य को मानते हैं; कारण, रस व्यक्ति के निमित्त जैसी सांग, सुव्यवस्थित और सुसंश्लिष्ट योजना यहाँ होती है, वैसी काव्य में नहीं। उन्होंने कहा है कि प्रमाता की व्यक्तिशः रसानुभूति की अपेक्षा सामाजिक रसानुभूति अधिक पूर्ण होती है और इसका अवसर नाट्य में ही आता है। कारण है, सहृदय समाज की संख्यागत प्रचुरता। यह संख्या जितनी प्रचुर होती है, आनन्द प्रवाह भी उतना ही सान्द्र तथा निबिड़ होता है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाताओं का तादात्म्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि ऐसे सामाजिक अवसरों पर देह-भेद से संकुचित होती हुई सर्वात्मिका संविद् विकसित होती हुई परस्पर संघट्ट प्राप्त करती परस्पर प्रतिफलित होती है और अधिक प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त करती है; ठीक वैसे ही जैसे दर्पणों में प्रतिफलित होती हुई रश्मियाँ। तन्त्रालोक में उन्होंने कहा है:

संवित् सर्वात्मिका देहभेदात् संकुचिता तु सा।
मेलकेऽन्योन्य संघट्ट संवित्सु प्रतिबिम्बिविकसरा।
उच्छलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वाप्येद्यत्नतः॥[११७]

कवि, अभिनेता (कलाकार) के साथ कला-समीक्षक की भी स्थिति रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। रसयिता सामाजिक ही सच्चा और समग्रता में आस्वादयिता या सौन्दर्यानुभूति में विश्रान्त रहता है। कला-समीक्षक को और आगे जाना पड़ता है। कलाकार में कारयित्री प्रतिभा सक्रिय रहती है जबकि कला-समीक्षक में भावयित्री। वह कलाकार के अन्तर्गत भाव का भावन करता है उसकी प्रतिभा 'तत्त्वार्थदर्शिनी' होती है जबकि कारयित्री 'अपूर्व वस्तु निर्माणक्षम प्रज्ञा' होती है।

आनन्दवर्द्धन ने कहा है और अभिनव ने उसे विवृत किया है:

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥ ११८

रसयिता केवल स्वाद ग्रहण करता है, कला समीक्षक स्वाद ग्रहण तो करता ही है, दूसरों को भी ग्रहण कराता है और उसका गुण-दोष भी निरूपित करता है और इस मूल्यांकनगत वस्तुनिष्ठता के लिए किसी न किसी शास्त्रीय-मानदण्ड का प्रयोग करता है। वह मानदण्ड आलोच्य रचना की तह में निहित तत्त्वार्थ 'जो है', उसका संवाद, तन्मयीभवन क्रम से आस्वाद लेता है और देखता है कि रचनाकार जिन घटकों से प्रभाव-सौन्दर्य पैदा कर रहा है, उनमें सर्वाधिक प्रातिभ संरम्भ किस पर है - उद्दिष्ट चमत्कार की धुरी कौन वहन कर रहा है- तदनुरूप मानदण्ड का प्रयोग करता है। यदि रसात्मक प्रभाव व्यक्त करने पर ही उसका प्रातिभ संरम्भ है तो ही रसात्मक प्रतिमान लागू होगा, यदि ऐसा नहीं है तब भी रसात्मक मानदण्ड का प्रयोग अभिनव गुप्त की दृष्टि में रसान्धता है। भट्टनायक की आलोचना के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त का यही आक्षेप है। उद्दिष्ट सौन्दर्य के जिस घटक पर प्रातिभ संरम्भ अनुभव गोचर हो, कला समीक्षक को तद्नुरूप मानदण्ड का प्रयोग करना चाहिए। रचनाकार कभी अलंकार की छटा पर ही अपना प्रातिभ संरम्भ रख सकता है -कभी वर्ण्यवस्तु की कमनीयता उभार सकता है इसलिए आलोचक को बहुत सावधान रहकर निर्णय लेना चाहिए और मानदण्ड प्रयोग करना चाहिए अन्यथा आलोचक दिग्भ्रान्त माना जाएगा। रचनाकार की विवक्षा देखकर काव्य को किसी कोटि विशेष में डालना चाहिए। कभी-कभी बड़े-बड़े कला समीक्षक विवक्षा और सौन्दर्य हेतू को ठीक-ठीक न पकड़ने के कारण दिग्भ्रान्त हो जाते हैं। आनन्द ने एक उदाहरण रखा है - धर्मकीर्ति का श्लोक है :

लावण्य-द्रविण-व्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः।
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः॥
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता।
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥ ११९

कतिपय आलोचक इसमें 'व्याजस्तुति' मानते हैं, पर यह बात बनती नहीं, उद्दिष्ट सौन्दर्य का स्रोत यह नहीं है। यह किसी रागी की उक्ति नहीं है, क्योंकि इसमें यह कहा गया है : "यह बिचारी स्वयं अनुरूप रमण के अभाव में मारी गयी"। इसकी

संगति 'व्याजस्तुति' से नहीं बनेगी। यह किसी नीराग की भी उक्ति नहीं है, ऐसा व्यक्ति इस प्रकार के विकल्प ही क्यों करेगा? उसे 'सौन्दर्य' से क्या लेना-देना? यह श्लोक किसी प्रबन्ध में भी नहीं है, जिससे सन्दर्भ तय हो अतः यहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा' माननी चाहिए। इस ग्रन्थि को अभिनव ने अच्छी तरह खोला है। यह स्वंय धर्मकीर्ति अपने विषय में कह रहा है। अप्रस्तुत नायिका है, प्रस्तुत स्वयं धर्मकीर्ति है। अन्यत्र भी उसने इस विषय में अपना खेद व्यक्त किया है कि उसके अभिमत को समझने वाला समानधर्मा कोई नहीं मिला। फिर आलोचन करते समय यह भी देखना चाहिए कि वाच्य विवक्षित है, अविवक्षित है अथवा उभयात्मा है। यह काम सूक्ष्मेक्षिका का है, इसमें स्खलन की बड़ी सम्भावना है। अतः काव्य-सौन्दर्य के विश्लेषण में कलासमीक्षक को रत्नपरीक्षक की तरह बारीकी को पहचानना चाहिए। काव्य में रचनाकार का विवक्षित सौन्दर्य और उस सौन्दर्य को उभारने वाला उपकरण-यह सब तय करना बड़ी भारी चुनौती है। काव्य के अगणित भेद 'सौन्दर्य' के भेद से सम्भव हैं, उनको ठीक-ठीक तय कर पाना असाधारण भावक के ही बूते का है। इसीलिए कहा गया हैः

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगंत्त्वं गिरा कृष्यते।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वाक्पतिः॥
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ,
वन्देतरां तं पुनर्यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारश्रमः॥ [१२०]

'सौन्दर्य' है वर्ण्य के असाधारण स्वभाव में ही, पर वह गैर-प्रातिभ चक्षु के समक्ष आता नहीं। प्रतिभा वर्ण्य वस्तु के स्पन्दमय असाधारण स्वभाव को पकड़ लेती है और वाणी के प्रभाव से उभारकर उकेर देती है। जो अभ्यासी कवि हैं वे प्रयत्नपूर्वक पालिश करके वर्ण्य को मनोहर रूप दे देते हैं। वन्दनीय ऐसे परिणम प्रज्ञ और अभ्यासी दोनों हैं परन्तु इन दोनों से भी बड़ा वन्दनीय वह आलोचक ग्रहिक है जो निहित तत्त्वार्थ को पकड़कर स्वयं भी सौन्दर्यमग्न होता है साथ ही सामान्य पाठकों को भी दिखाकर सौन्दर्य-बोध करा देता है। कलाकार के श्रम को समीक्षक ही समझता है और समझने पर रचनाकार राहत का अनुभव करता है, धर्मकीर्ति की तरह झख नहीं मारता।

इस प्रकार इसके आभोग में रचयिता, अभिनेता, ग्राहक और कला-समीक्षक, अपने-अपने व्यापार-अपूर्व निर्माण, समर्थ प्रस्तुति, आस्वादग्रहण तथा ग्रहण के साथ

दूसरों तक उसे पहुँचाना–निकष पर कसकर मूल्यांकन करना-में पृथक-पृथक अपनी पहचान स्थापित करते हुए भी सर्जनात्मक अनुभूति या आस्वाद में सभी समरूप (Identical) हैं।

टिप्पणीयाँ

१. अथर्ववेद ३।३।१, सं.राजवीर शास्त्री, दयानन्द कोश, पृ.१०२०।
२. रसानथर्वणादपि–नाट्यशास्त्र चौखंबा संस्करण, सं.१८२६, १।१७।
३. भरतमुनि का रस और भाव, 'हिन्दुस्तानी', भाग ४२, अंक १,पृ.५६।
४. उत्तररामचरित–तृतीय अंक–प्रथम श्लोक, पृ.६७।
५. औचित्यविमर्श–औचित्यविचारचर्चा, भारतीभंडार,पु.१८५, सं.२०२१।
६. दयानन्द१ वैदिककोश, पु.१०२०।
७. ध्वन्यावलोकलोचन में उद्धृत, चौखंबा संस्करण, पृ.६२, सं.१६६७।
८. भरत,नाट्यशास्त्र, पृ.१२४, गा.ओ.सी.बडोदा, १६८०।
९. सहृदयपरिकल्पना एवं आधुनिक हिन्दी साहित्य–डॉ.सूर्यनारायण द्विवेदी, पृ.५१।
१०. ध्वन्यालोक, चौखंबा संस्करण, प्रथम और अंतिम श्लोक में 'सहृदय' शब्द प्रयुक्त ६।५३३।
११. ध्वन्यालोकलोचन, चौ.सं.,पृ.५५१।
१२. वही, पृ.३५६।
१३. ध्वन्यालोकलोचन, पृ.३८।
१४. वही, पृ.३८ ।
१५. अभिनवभारती-भाग २, पृ.३३९।
१६. ध्वन्यालोकलोचन–बालप्रिया टीका, पृ.३८
१७. वही।
१८. अभिनवभारती–भाग १, पृ.६७८।
१९. योगदर्शन-पतंजलि, १४ वाँ सूत्र 'स तु दीर्घकायनैरन्तर्य:', पृ.१८।
२०. अभिनवभारती–भाग १,पृ.२८७।
२१. 'विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदय:'– अभिनवभारती, भाग १, पृ.३३।
२२. न व्यसनितायै पर्यवस्यति– अभिनवभारती, भाग १,पृ.२८७।
२३. सुकुमारता हि वैमल्यापरपर्याया–अभिनवभारती, भाग २, पृ.३–अभिनवभारती, भाग २, पृ.३३८।
२४. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय:, वही भाग १, पृ.२७६।

२५. अभिनवभारती, भाग १।
२६. ध्वन्यावलोकलोचन, ३१७ पृ.।
२७. भारतीय साहित्य-दर्शन, पृ.५४।
२८. भारतीय साहित्य-दर्शन में उद्धृत, पृ.४४।
२९. ध्वन्यालोकलोचन–वन्देतां प्रतिभां शिवम्, पृ.१६४।
३०. ध्वन्यावलोकलोचन–प्रतिभाअपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, पृ.२८।
३१. रसगंगाधर,प्रथम आनन, पृ.२७।
३२. वेदान्त-परिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृ.७५ तथा पृ.५०।
३३. अभिनवगुप्त—डॉ.क्रातिचन्द्र पाण्डेय द्वारा उद्धृत, पृ.२८७-२८७।
३४. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ.२५३ : प्रबोधिपंचदशिका से उद्धृत।
३५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी,भाग २,पृ.१७७-८।
'स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द इत्युच्यते।'
३६. नपुंसकमिदं नाथ परं ब्रह्म फलेत् कियत्।
त्वत्पौरुषी नियोक्त्रीचेन्नतत्स्यात्वद्भक्तिसुन्दरी।–स्पंदनिर्णय, पृ.१८।
३७. ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, पृ.१७६—'हृदयेन परामर्शलक्षणेन।'
३८. परात्रीशिका, अभिनवगुप्त, पृ.४६।
३९. वही।
४०. कुमारसम्भव, पंचमसर्ग, ३६ वाँ श्लोक, सं.सीतराम चतुर्वेदी, पृ.२७३।
४१. कामायनी–दर्शन सर्ग, पृ.२४६।
४२. उज्ज्वलनीलमणि।
४३. अपरा–'वह तोडती पत्थर' से।
४४. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य - पं. गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित भूमिका, पृ.१२ , ना.प्र.स., काशी, सं, २०१५।
४५. *यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।*
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां शिवाम्॥
ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्भा, १९४० पृ.१६४
४६. कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वार्थ-निर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः। नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, प्रथम अध्याय, पृ.२१, का.हि.वि.वि.वाराणसी १९७११
४७. येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्यपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ—परिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो कर्तुं न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती एवमभितमर्थमाविर्भावयति—ध्वन्यावलोकलोचन—पृ.५५१।

४८. सारस्वतं चक्षुरवाङ् मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयमेव विभजति । तदाहुः सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति, तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽप्यन्धचक्षुः। अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यंधास्तद्विपरीते तु दिव्यदृशः। काव्यमीमांसा–राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्-पटना, १९५४, पृ.१५३

४९. कुतः खल्वपूर्वमानयामीत्याशयेन निरुद्योगः परोनिबद्धवस्तूपजीविका वा स्यात्–ध्वन्यालोकलोचन-पृ.५५१

५०. स्वकीय

५१. "आनंदोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना" उत्पलदेव की "स्तोत्रावली" की व्याख्या में क्षेमराज द्वारा उत्तर

५२. *नानृषिः कविरित्युक्तः ऋषिश्च किल दर्शनात्।*
विचित्रभावधर्मांशतत्वप्रख्या च दर्शनम्॥
अविद्याबीजप्रध्वंसाद्–अयमार्षेण चक्षुषा।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत्॥
न तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चैव रूढालोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता तावद् यावज्ज्ञाता न वर्णना॥
भट्टतौत *काव्यानुशासन, ८ की वृत्ति में उधृत।*

५३. ध्वन्यालोक–प्रथम उद्योत, ५वी कारिका, पृ.८५

५४. वही पृ.१९

५५. वही पृ.२९

५६. वही पृ.२७

५७. ध्वन्यालोकलोचन पृ.८६

५८. कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित् परमार्थतो रसः। तदेवं मूलं बीजस्थानीयः कविगतो रसः, अभिनवभारती पृ.६९१

५९. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते

६०. भारतीय संस्कृति और साधना, वि.रा.भा.प.पटना,१९६३, पृ.२०

६१. वही पृ.२०

६२. नाट्यशास्त्र—अभिनवभारती, द्वितीय अध्याय की टीका, मंगलाचरण, पृ.१५८

६३. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यंदमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

६४. ध्वन्यावलोकलोचन, पृ.९१

६५. ध्वन्यावलोक, पृ.९१
६६. वही, द्वितीय उद्योत का.७ पृ.२०५
६७. वही पृ.२०८
६८. काव्यप्रकाश, पूना (भं.ओ.रि.इं.) १९३३ ई.पृ.४७५
६९. ध्वन्यालोकलोचन, पृ.३९०
७०. वही, पृ.३९१ से उद्धृत
७१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, पृ.१४२
७२. उत्तररामचरित
७३. रसात्मक बोध के विविध रूप, चिंतामणि, भाग-१
७४. ध्वन्यालोकलोचन
७५. वेदान्तपरिभाषा
७६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-भाग १, वृहतीविमर्शिनी,पृ,४२
७७. अभिनवगुप्त–डा. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृ.२८६,७
७८. ध्वन्यालोकलोचन, पृ.८१
७९. वही, पृ.३१७
८०. काव्यप्रकाश, पृ.११ (पूना संस्करण-वामनी) पृ.९
८१. रसगंगाधर, निर्णयसागर, बंबई, १९४७, पृ.—
८२. उत्तररामचरित
८३. वही—टीका
८४. पातंजलयोगदर्शन ३।३६
८५. नागेशकृतटीका–पा.यो.दर्शन, पृ.१५८
८६. दशरूपक—अवलोकसमेत, निर्णयसागर, १९४१, पृ.—९७
८७. अभिनवभारती (वाराणसी) पृ.६५३
८८. भट्टतौत (उपरि उद्धृतः)
८९. ध्वन्यालोक, पृ.५२८
९०. भारतीय साहित्य दर्शन–में उद्धृत,पृ.५१, वाराणसी १९५१
९१. देखें-प्रत्यभिज्ञा हृदयम् : जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७३। तथा अभिनव गुप्त : प्रो. जी. टी. देशपाण्डे, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, १९९५
९२. वेदान्त परिभाषा : धर्मराजाध्वरीन्द्र, पृष्ठ ४७-४९, क्षेमराज श्री कृष्णदास, मुम्बई, १९८५
९३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, भाग-१, पृष्ठ ४२, बृहती विमर्शिती से उद्धृत सन्दर्भ : डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, अभिनव गुप्त, पृष्ठ २८६

९४. अभिनव गुप्त : का. च. पाण्डेय द्वारा उद्‌धृत, पृष्ठ २०६-०७
९५. ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्बा, १९२७, पृष्ठ ८
९६. अभिनव भारती, भाग-१, पृष्ठ २७३, विश्वविद्यालय का. हि. काशी, १९७१
९७. नाट्यशास्त्र -अभिनव भारती, भाग-१, पृष्ठ ६८४
९८. वक्रोक्तिजीवित, चौखम्बा, १९६७, प्रथम उन्मेष, पृ. १०३, २८वीं कारिका
९९. नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय, पृ. ७९०, श्लोक-२
१००. वही-प्रथम अध्याय, पृष्ठ. १०९, श्लोक-१०७
१०१. अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र), पृ. ४५
१०२. Indian Aesthetics का. च. पाण्डेय
१०३. काव्यालंकार - भामह।
१०४. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति -वामन
१०५. ध्वन्यालोक लोचन - पृ. १०५
१०६. वही - पृ. ४९
१०७. वही - पृ. ८५
१०८. वही - पृ. १०५
१०९. काव्यप्रकाश (वामनी टीका), बी. ओ. आर. आई. पूना, पृष्ठ ९३
११०. प्रबोध पंचदशिका (भारतीय संस्कृति और साधना, भाग-१ से उद्‌धृत), पृष्ट २५३, पटना, १९६३
१११. नाट्यशास्त्र-अभिनव भारती, पृष्ठ ६९१
११२. दशरूपक, निर्णयसागर, चतुर्थ प्रकाश, पृष्ठ ९७
११३. ध्वन्यालोक लोचन, पृ.८६
११४. मालविकाग्निमित्रम् - कालिदास ग्रन्थावली
११५. ध्वन्यालोक लोचन, पृ. १२, भट्टतोत की कारिका
११६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिती, भाग-२, पृ. १७७
११७. तन्त्रालोक, २८/५/३७२
११८. ध्वन्यालोक, पृ. १०२, प्र. उ.
११९. वही, तृतीय उद्योत, पृ. ४८७
१२०. वक्रोक्तिजीवित, चौखम्भा, १९६७, पृ. २६५०

□□

तृतीय अध्याय
रस-विमर्श

३.१ भारतीय काव्यात्मवाद की भूमिका

काव्यात्मवाद से मेरा अभिप्राय भारतीय काव्यचिन्तन के संदर्भ में है–काव्यकी सारवत्ता से सम्बद्ध काव्यचिन्तकों के विभिन्न विचार। यहाँ पर 'वाद' शब्द का प्रयोग 'तत्त्वबुभुत्सुओं की कथा' के अर्थ में नही है, प्रत्युत Schools के अर्थ में है। यहाँ काव्य नाट्यात्मक भी है और श्रव्यात्मक भी, परन्तु काव्य में सार तत्त्व क्या हैं-यह प्रश्न विवादास्पद बना–श्रव्यकाव्य के ही संदर्भ में। बात यह है दृश्यकाव्य में कभी भी उसकी सारवत्ता विवादास्पद नहीं बनी। वहाँ सभी ने एकमत से यह स्वीकार किया कि नाट्य का इतिवृत्त उसका शरीर है और रस उसकी आत्मा। अतः वहाँ यह प्रश्न नहीं किया गया। श्रव्यकाव्य के विषय में यह प्रश्न अवश्य है। कारण, श्रव्यकाव्य प्रकीर्णक, मुक्तक, प्रबन्धात्मक—विभिन्न प्रकार का है। फलतः वहाँ वह सर्वसामान्य तत्त्व क्या है जिसके कारण शब्दार्थ की संज्ञा काव्य पड़ती है? वह कौन सा तत्व है जिससे संबन्धित किए जाने पर शब्दार्थ काव्यसंज्ञा के योग्य बनता है? या किससे रहित होने पर वह शब्दार्थ अकाव्य ही रह जाता है? काव्य के स्वरूप निर्वचन के अवसर पर कहा गया है—

"विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है।"

विचारणीय यह है कि वैशिष्ट्य को क्या नाम दिया जाय? इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा गया है कि वह चारुता है जो शब्दार्थ में विद्यमान रहती है–तो उसे काव्य कहा जाता है और न हो तो अकाव्य। निष्कर्ष यह कि चारुता ही काव्य की आत्मा है। अलंकार तथा रीतिवादी इसे सौंदर्य शब्द से भी कहते हैं। ध्वनिवादी भी इसे मान्यता देते हैं। मतलब इसके सारतत्त्व होने में किसी का मतभेद नहीं है। मतभेद वस्तुके स्वरूप में क्या है—वह जो है वह है–विवाद वहाँ खड़ा होता है जब वह

प्रतीति का विषय बनता है। प्रतीति में प्रत्येता की दृष्टि उसकी रुचियों और संस्कारों से रंजित हो जाती है और तब वस्तु के प्रतीत स्वरूप के विषय में मतभेद पैदा होता है। काव्य की सारवत्ता के संबंध में इन्ही मतभेदों का यहाँ विवरण दिया जायगा।

काव्य के घटक तमाम तत्त्व हो सकते हैं, पर जहाँ तक प्राचीन चिन्तकों का संबंध है—कहा गया है– '

अलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानांमतम्'।

अलंकार ही काव्य घटकों के बीच सबसे महत्त्वपूर्ण है–वही चारुता का स्रोत है। इनलोगों की दृष्टि में चारुता या कमनीयता या कांति स्वभाव-प्रसूत भी हो सकती है–परन्तु काव्यत्व व्यवहार में उसका कोई उपयोग नहीं है–उपयोग उस चारुता का है जो अलंकार द्वारा उत्पादित या प्रवर्द्धित है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए भामह कहते हैं–

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानम्।

अर्थात् सहज कमनीयता से युक्त होकर भी वनिता का वदन यदि अलंकार रहित है तो आकर्षक नहीं लगता। अलंकारवादियों की रुचि के अनुसार आकर्षण तो तभी होता है , जब उस पर अलंकार धारण किया जाय। इस विवेचन के आलोक में यह स्पष्ट है कि अलंकारवादियों की मान्यता के अनुसार काव्यत्वव्यपदेश हेतुभूत चारुता का स्रोत अलंकार ही है। अतः एक वाद यह हुआ कि अलंकार ही चारुता का स्रोत है। इस संदर्भ में इस वाद को अलंकारवाद संज्ञा दी गई।

दूसरे लोग ऐसे हैं जो काव्य में सहज सौंदर्य के पक्षधर हैं और उसका स्रोत गुण को मानते हैं। दृष्टान्त में वे यौवनगुण के कारण वनिता के आनन पर छाई हुई सहज कमनीयता की बात करते हैं। यों कहने के लिए तो ये लोग रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं, अर्थात् 'विशिष्ट पदरचना' को ही काव्य की चारुता का स्रोत कहते हैं, पर पदरचना में यह विशेषता गुणों के ही कारण आती है। अतः तत्त्वतः गुण ही चारुता के मूल स्रोत हैं। फलतः इन लोगों ने घोषणा की—*रीतिरात्मा काव्यस्य*——

तीसरे वे लोग हैं–जो इनसे भी असहमत हैं। इनका पक्ष यह है कि 'गुण और अलंकार'—जिन्हें शरीर भी नहीं, प्रत्युत शरीराश्रित धर्म के रूप में माना गया, उन्हें—शरीर या आत्मा कैसे कहा जाए? दूसरे उन दोनों मतों में चारुता या सौंदर्य को शरीराश्रित माना गया है–जो अनुभव और तर्क से संगत नहीं है। अनुभव कहता है

कि सौंदर्य का सम्बन्ध शरीर से नहीं, अपितु शरीर की तह में रहनेवाली चेतन सत्ता से है। शरीर से ही यदि सौंदर्य का संबंध होता, तो शव भी आकर्षक लगता-युवा का शव या युवती का शव शरीर तो है–क्या किसी को उसमें आकर्षण होता है? नहीं। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि चेतना रहती है तो चारुता प्रतीत होती है और वह नहीं रहती–तो नहीं प्रतीत होती। इससे स्पष्ट है कि चारुता शरीरान्तर्वर्ती किसी शरीरातिरिक्त सत्ता से सम्बद्ध है। काव्य का शरीर है–शब्द और अर्थ। इसमें वाचक, लक्षक और वाच्य-लक्ष्य समाहित हैं। इनसे अतिरिक्त पर इनके सहारे जो अर्थ इनकी तह में रहता है–वह है–प्रतीयमान अर्थ। यही प्रतीयमान अर्थ चारुता का स्रोत है। इन लोगों का मत है कि काव्य की यही सारसत्ता है–इसी को आत्मस्थानीय माना जाना चाहिए। फलतः इन लोगों ने स्वीकार किया – *काव्यस्यात्मा ध्वनिः।* यही प्रतीयमान अर्थ जब काव्य में सर्वातिशायी होता है तब ध्वनि संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

चौथे ने कहा कि उक्त विचार भी संगत नहीं है। बात यह है कि आत्मा शरीरान्तर्वर्ती तो होती है, पर वह एक अखंड और निरतिशय होती है। प्रतीयमान अर्थ त्रिधा या अनेकधा विभाजित होता है–वस्तु, अलंकार और रस और फिर इनके भेद-उपभेद। इस विभक्त या विभाजनीय और सातिशय अर्थ को आत्मा किस प्रकार कहा जाय? फलतः प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा माना जाना चाहिए। रस निरतिशय, एक और अखंड है। भट्टनायक आदि आचार्य इसी पक्ष के पुरस्कर्ता हैं। यही स्वर हमें ध्वनिवादियों के – *काव्यस्यात्मा स एवार्थः* — में भी सुनाई पड़ता है।

पाँचवें ने इसमें भी त्रुटि देखी और कहा कि आत्मा तो सर्व व्यापक होता है— फलतः काव्यसंज्ञा से अभिहित होने वाली उक्तिमात्र में उसकी व्याप्ति होनी चाहिए–पर रस तत्त्व-ऐसा व्यापक तत्त्व नहीं है।

कनक-कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय
या खाए वौरात हैं वा पाये वौराय।

इसे काव्य माना जाता है–पर इसमें किस रस की स्थिति मानी जाय? जैसे-तैसे किसी रस का संस्पर्श बता दिया जाय तब तो ऐसा कुछ भी नहीं बचेगा-जो काव्य न बन जाय। अभिप्राय यह कि रस काव्य की आत्मा उसकी अव्यापकता के कारण मानना ठीक नहीं। इसीलिए वक्रता-शब्दार्थवर्ती-वक्रता–को ही काव्य की चारुता का

स्रोत मानना उचित और तर्क संगत होगा। जिस शब्दार्थ में बाँकपन होगा वह काव्य होगा–उसमें बाँकपन के कारण चारुता होगी।

छठे ने इस पर भी आपत्ति की और कहा कि अलंकार, गुण, प्रतीयमान और वक्रता–कुछ भी हो–जब तक वह औचित्य-सापेक्ष नियोजित नहीं होगा–तबतक चारुता का स्रोत नहीं हो सकता–फलतः जिस औचित्य की अपेक्षा सबको है–वह औचित्य ही अंततः अन्वय-व्यतिरेक से काव्य-गत-चारुता का स्रोत जान पड़ता है। अतः क्षेमेन्द्र ने घोषणा की– *"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"* औचित्य ही रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित है।

सातवें चिन्तक का कहना है कि यह पक्ष भी संतोषजनक नहीं है। कारण, औचित्य का ध्यान किसी भी उक्त तत्त्व के सन्नियोजन में रखा गया है या नहीं–इसका पता तज्जन्य चमत्कार पूर्ण प्रभाव में है। फलतः यह चमत्कार जबतक प्रतीतिपथावतीर्ण न हो तब तक औचित्य का निर्वाह हुआ या नहीं - यह कैसे तय हो। अतः महत्ता या सारसत्ता उसकी क्यों न मानी जाय–जिसका मुखापेक्षी औचित्य भी हो। इस प्रकार यह घोषित हुआ – *काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः ।* अथवा – *वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः ।*

उक्तपक्षों को संपिंडित कर के कहा जाय तो यही कहा जायगा कि काव्यास्वाद के रूप में कुल सात वाद हैं —

१. अलंकारवाद २. रीतिवाद
३. ध्वनिवाद ४. रसवाद
५. वक्रोक्तिवाद ६. औचित्यवाद
७. तथा चमत्कारवाद

मेरा विचार है कि इन पक्षों को यदि परस्पर प्रतिस्पर्द्धीपक्ष माना जाय तो औचित्य और चमत्कार को इस घेरे से बाहर करना होगा। कारण यह है कि औचित्य सर्वोपकारक है और चमत्कार सबका साध्य, अतः साधन और साध्य-जो सभी का हो–प्रतिस्पर्धी कैसे कहा जायगा। प्रतिस्पर्द्धी न होने पर उनके बीच परिगणन असंगत है। इसलिए कुल मिलाकर पाँच वाद ही माने जाने चाहिए।

प्रो.गणेश त्र्यंबक देशपांडे ने अपने भारतीय साहित्य शास्त्र में कहा है कि यहाँ 'वाद' शब्द School का रूपान्तर है और School के पीछे विदेशी कूटनयिक दृष्टि हैं। ये विदेशी या विदेशी प्रभावापन्न व्यक्ति भारत के प्रत्येक क्षेत्र में खंडरूपता देखते

हैं और दिखाना चाहते हैं। वस्तुतः यहाँ के चिन्तकों में काव्य की आत्मा के संबंध में मतवाद है ही नहीं। उन सबके बीच एक ही वाद है या सिद्धान्त है और वह है–रस का। अलंकारवादी हों, रीतिवादी हों, ध्वनिवादी हों या रसवादी अथवा वक्रोक्तिवादी ही क्यों न हों– ध्यान से देखा जाय तो रस की चर्चा सभी करते हैं और प्रमुखता भी देते हैं। उदाहरणार्थ, जब वामन कहता हैं – *काव्येषु दशरूपकं श्रेयः ।* अर्थात् काव्य में दशरूपक ही उत्तम है–तब इस उत्तमता का प्रतिमान क्या हो सकता है? सिवा इसके कि वह रसमय है। भामह आदि जब प्रबन्ध काव्य में– *रसैश्च सकलैः पृथक्*––की अनिवार्यता निरूपित करते हैं तब क्या रस को महत्त्व नहीं देते? ध्वनिवादी और रसवादी तो अन्ततः रस को ही काव्य का प्रतिपाद्य मानते हैं। कुन्तक भी वक्रता का पर्यवसान 'लोकोत्तराह्लाद में ही समझते हैं। औचित्य रस की परा उपनिषद् है और चमत्कार रस का सार। इस प्रकार रस ही एक मात्र भारतीय काव्यचिन्तन में काव्य की सारसत्ता के रूप में प्रतिपादित हुआ है। काव्य का एक मात्र यही पक्ष है।

इस वक्तव्य के विषय में तर्क और प्रमाण-दोनों हैं। तर्क यही है कि उन पाँचों ने लगभग कण्ठरवेण यह स्वीकार किया है कि काव्य की आत्मा रीति, ध्वनि,वक्रोक्ति आदि हैं। दूसरे वह वामन जो कान्ति और ओज गुण सम्पन्न गौडीय रीति को अनात्मभूत कहता है वह रस को महत्ता किस प्रकार दे सकता है? कान्तिगुण दीप्तरसता है और गौडी उससे संपन्न है-फिर रसवत्ता को सार माननेवाला वामन उससे संपन्न रीति को अनात्मभूत कैसे कहेगा? तीसरे इस तथ्य का प्रमाण भी भारतीय चिन्तन में उपलब्ध है कि यहाँ के चिन्तक काव्य या विशिष्ट शब्दार्थ के वैशिष्ट्य के विभिन्न स्रोत मानते हैं–अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक के टीकाकार समुद्रबंध ने कहा है–

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतः गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकर्तृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेषु प्रथमः उद्भटादिङ्गीकृतः द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेंन, पञ्चमः आनन्दवर्द्धनेन"–अर्थात् विशिष्ट शब्दार्थ ही काव्य है। इनका वैशिष्ट्य तीन स्रोतों से संभव है–धर्म द्वारा, व्यंग्य द्वारा और व्यापार द्वारा। प्रथम पक्ष में दो प्रकार हैं–अलंकारात्मक और गुणात्मक धर्म। दूसरे पक्ष में भी दो रूप हैं–भणिति वैचित्र्य

या वक्रतानाम कवि व्यापार अथवा भावक का भावन या रसनव्यापार। पाँचवा पक्ष है–व्यंग्य। इस प्रकार उद्‌भटादि का पहला पक्ष, वामन का दूसरा पक्ष, वक्रोक्तिकार का तीसरा पक्ष, भट्टनायक का चौथा पक्ष और आनन्दवर्धन का पंचम पक्ष। इस प्रकार भारतीय काव्यचिन्तन में भी ये पाँच पक्ष स्पष्ट हैं।

इस पर से डॉ. नगेन्द्र का पक्ष यह कि वस्तुतः दो ही पक्ष है–एक निर्माण पक्ष से और दूसरा ग्रहण पक्ष से। निर्माण पक्ष से अलंकारवाद और ग्रहणपक्ष से रसवाद। बात इस प्रकार है कि मम्मट–उद्‌भट आदि तो अलंकार को महत्त्व देते ही हैं, वामन भी सौंदर्य और सौंदर्यसाधन को अलंकार ही मानते हैं। कुन्तक तो वक्रोक्तिरलङ्कृतिः कह ही रहे हैं अतः निर्माण पक्ष से विचार करनेवाले इन आचार्यों को एक ही पक्ष के अंतर्गत रखा जा सकता है और वह हैं अलंकारवाद। इसी प्रकार ग्रहण पक्ष से विचार करनेवालों में ध्वनिवादी अंततः रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं–रसवादी तो रस को मानते ही हैं। निष्कर्ष यह कि इन दोनों को रसवादी ही कहना चाहिए। इस प्रकार कुल दो ही पक्ष हुए। पण्डित नंददुलारे वाजपेयी का कहना है कि तत्त्वतःदेखा जाय तो निर्माण की ओर कवि का अखण्ड काव्यव्यापार होता है–उसमें अलंकार और रस अविच्छेद्यरूप से एकवद्‌भावापन्न होते हैं–भेद होता ही नहीं––अतः पक्ष या सिद्धान्त तो एक ही है–रसवाद।

इन दोनों चित्तकों के विपक्ष में इतना ही कहना है कि उद्‌भट, वामन और कुंतक ने शब्द तो एक ही प्रयुक्त किया है अलंकार, पर अर्थतः वे भिन्न-भिन्न हैं। उद्‌भट की अलंकार संबंधी धारणा बहुत व्यापक है। वामन व्यापक और सीमित दोनों रूपों में मानते हैं और कुन्तक की वक्रोक्ति वर्ण से लेकर प्रबंध तक व्याप्त रहती है। अतः बुद्धिपूर्वक विचार करने के संदर्भ में अंतर हो-तो उसे स्पष्ट करना चाहिए न कि उसे उपेक्षित करना चाहिए। ऐसा करने से विचार की सार्थकता नहीं होती। आचार्य वाजपेयी का पक्ष भी तात्त्विक दृष्टि से ठीक है, पर अपोद्धारबुद्‌ध्या विश्लेषणात्मक विचार के व्यावहारिक धरातल पर नहीं। तत्त्वतः ब्रह्मबुद्धि ठीक है - पर व्यवहार में तो विशेष रहेगा। विशेष की भी व्यावहारिक स्थिति मानकर–तत्त्वतः सामान्य रूप से प्रतिष्ठित ब्रह्मबुद्धि की जा सकती है। इस प्रकार मेरे विचार से काव्यात्मा के संबंध में निम्नलिखित पाँच पक्ष ही हो सकते है–

— अलंकारवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद : निर्माण पक्ष से
— ध्वनिवाद, रसवाद : ग्रहण पक्ष से

३.२ साधारणीकरण : भारतीय परिवेश में

भाषाविद् समस्त भारतीय चिन्तन को वाक्केन्द्रित मानते हैं–साहित्यचिन्तक 'रस केन्द्रित'। भारतवर्ष की परिनिष्ठित 'दृष्टि' अद्वैतवादी है - जिस अद्वैत का द्वैत से भेद-घटित अभेद है। निगम में इसका 'बीज' विद्यमान है और 'आगम' में उसका पल्लवन है। साहित्य चिन्तन या काव्यचिन्तन को व्यवस्थित 'दर्शन' इसी मान्यता के संदर्भ में मिला है। आनन्दवर्धन,कुन्तक और अभिनवगुप्त आदि आगमवेत्ता इसके पुरोधा हैं। हमारी वैचारिक यात्रा का नियंत्रण कक्ष और गंतव्य "*रसो वै सः*" आत्मस्वरूप रस ही है। कहा गया है– *न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः* [१]*प्रवर्तते* ।

मूल और परिणति में वही है–बीच में रचना कर्म या कवि कर्म है–नाट्य में नटकर्म तत्पुरस्सर है। चाहे विधि-निषेधमय शास्त्रीय प्रस्थान हो, या तदनुरूप व्यावहारिक प्रस्थान, पारमार्थिक और साहित्यिक प्रस्थान हो–पर्यवसान 'स्वरूपबोध' या 'पूर्णता परामर्श' जैसे 'अविभक्त' की अपरोक्षानुभूति में ही है। द्रवशील अन्तःकरणवाले रसोपासक भक्तों के वासना भेद से उसमें लीला की विभक्त और विभिन्न तरंगे समुच्छलित हो सकती हैं।

काव्य, नाट्य तथा अन्य ललित कलाओं के संदर्भ में होने वाली इस रसानुभुति (पार्यन्तिक परिणति) का संबंध मुख्यतः उन से है। जो उसे सामाजिक-गत मानते हैं– 'साधारणीकरण' नामक रसनिष्पत्तिकी प्रक्रिया (आन्तरालिक प्रक्रिया) उसी के संदर्भ में अपेक्षित होती है। अनुकार्यगत रसास्वाद के पक्षधर लोल्लट के यहाँ तो असाधारण व्यक्ति ही रस का आश्रय है। अनुमितिवादी शंकुक के यहाँ नट में ही कलाजगत् के 'चित्रतुरगन्याय' से अनुकार्य बुद्धि बन जाती है - अतः वहाँ भी आश्रय 'असाधारण' ही रह जाता है। फलतः इन दोनों पक्षों में असाधारण' से ही काम चल जाता है–उसके साधारणीकरण की अपेक्षा ही नहीं होती। ये 'सामाजिक' में रस की निष्पत्ति मानने वाले आचार्य हैं जिनके यहाँ रसनिष्पत्ति के लिए असाधारण रूपसे प्रतीति रसानुभूति में वाचक बन जाती है– फलतः 'साधारणीकरण' की आवश्यकता अपेक्षित होती है। यही कारण है कि भरत के रसनिष्पत्ति सूत्र के प्रमुख व्याख्याकारों में सामाजिक में रस की मुख्यरूप से निष्पत्ति मानने वाले भट्ट नायकही हमारे सामने आते हैं। भरत भी कहते हैं,"*नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् स्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति*[२]" अर्थात् नाना प्रकार भावों के अभिनय से व्यंजित वाचिक, आंगिक, सात्विक अभिनयों से उपेत स्थायीभाव का

आस्वाद लेते हैं और फलस्वरूप हर्षादि का अनुभव करते हैं। ये आस्वादयिता सुमनस् प्रेक्षक (सामाजिक) ही हैं। भरत आस्वाद्य रस की बात पाकरस के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं-परन्तु सामग्रीग्रह और आस्वाद के बीच की आन्तरालिक प्रक्रिया पर कोई प्रकाश विकीर्ण नहीं करते। षष्ठ अध्याय (रसाध्याय) में कहा है '*एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते*'[३]– अर्थात् इन उनचास भावों के सामान्य धर्म के योग से रस निष्पन्न होते हैं। यह 'सामान्यगुणयोग 'क्या है? क्या इसमें कही साधारणीकरण की संभावना का बीज निहित है?

'साधारणीकरण'–शब्द की संरचना में तीन घटक हैं–साधारण+ (अभूततदभाव के अर्थ में) च्वि प्रत्यय+करण'—इसका अर्थ हुआ–असाधारण का साधारण बन जाना। मनीषियां[४] का पक्ष है कि भरत जिस 'भाव' की बात करते हैं– उसमें 'भवन' की नहीं', 'भावन' की क्षमता है। पहले पक्ष (भवन) में भाव मनोविज्ञान का विषय है-दूसरे पक्ष में 'भाव' रसशास्त्र का विषय है। उसका विचार 'रस' के पक्ष से किया जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' अनुभूति का एक ऐसा प्रकार है जिसका एक निमित्त के बोध का पक्ष है और दूसरा 'वेग युक्त प्रवृत्ति' का। इस प्रकार मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' इन्ही तीन का संश्लिष्ट चक्र है। 'उत्साह' नामक वीर रस के स्थायीभाव पर यह लक्षण लागू नहीं होता। अश्वमेध के घोड़े को देखकर लवकुश में 'उत्साह'का आलम्बन या निमित्त कौन है? यहाँ निमित्त बोध नहीं है और 'उत्साह' नामक भाव है। रसनिष्पादकता तो है उसमें - अतः रसशास्त्र की दृष्टि से वह 'भाव' है। ये भाव अपनी प्रकृति में 'भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं — ३३ संचारियों को भी लिया जाय–तो उनमें से कई एक लौकिक मनोविकारों से संवादी हो सकते हैं और कई शारीरिक अवस्थाओं से–किन्तु काव्यार्थ को भावित करने में उनमें एक ऐसा सामान्य गुण है–जिसके कारण वे 'भाव' कहे जाते हैं–'*वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति–इति भावाः।*'' यदि ४९ को लिया जाय–तो भी सब में यही एक सामान्यगुण है। इसीलिए भरत ने उन्हें एक ही सूत्र में लिया है— व्यापक अर्थ में–'भावन' करने के कारण ये सभी भाव हैं। इतना सब कहने का भाव यह कि '*एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन —*' में सामान्यगुण साधारणीकरण की मूल संभावना से युक्त नहीं है। साधारणीकरण से 'सामान्यगुणयोग' से कोई संबंध नहीं है। पर भट्ट नायक से पूर्व इस सिध्दान्तका अंकुरण हो चुका था–भट्ट नायक और–अभिनवगुप्त के संबद्ध विचारों के मंथन से आपाततः लगता[५] है।

भट्टनायक से पूर्व 'साधारणीकरण' अस्तित्व में आ चुका था। इसका आधार है–भट्टनायक का पूर्व पक्ष और अभिनवगुप्त द्वारा उसका खण्डनात्मक मंथन। भट्टनायक मानते हैं कि काव्य या नाट्य से सामाजिक में रस की प्रतीति न तो आत्म गत मानी जा सकती है और न परगत (अनुकार्यगत)। प्रतीति ही नहीं,'उत्पत्ति' और 'अभिव्यक्ति भी। झलकीकर वामन पारिशेष्य के कारण पूर्ववर्ती (लोल्लट, शंकुक और आनन्दवर्धन) चिन्तकों द्वारा सिध्दान्तित उत्पत्ति, अभिव्यक्तितथाअनुमिति सिद्धान्त को दृष्टिगत कर 'प्रतीति' का अर्थ 'अनुमिति' करते हैं। अभिनवगुप्त 'प्रतीति' का अर्थ अनुभव या स्मृति आदि रूप में विकसित[६] करते हैं। वे मानते है कि प्रतीति अपने अनुभवात्मक रूप में दो ही प्रकार की हो सकती है–या तो वह 'उत्पति' स्वरूप होगी या 'अभिव्यक्ति' स्वरूप। यदि 'प्रतीति' का अर्थ 'उत्पत्ति' माना जाय–तो वह उत्पत्ति न तो आत्मगत होगी और न पर (रामादि) गत। आत्मगत इसलिए न होगी कि सामाजिक को 'असाधारण' रूप में प्रतीत शकुन्तलादि श्रृंगार की भावना पैदा ही न कर सकेगी। यह मानना भी ठीक नहीं कि सामाजिक को शकुन्तला– को देखकर अपनी कान्ता स्मृति में उभर आएगी–फलतः श्रृंगार की भावना पैदा हो सकती है। ऐसे में काव्य-नाट्य की सामग्री स्मारक बन कर रह जायगी और फिर किन-किन रसात्मक प्रतीतियों में किस-किस का स्मरण होता रहेगा? 'अभिव्यक्ति' का पक्ष भी भट्टनायक इसलिए असंभव मानते हैं कि अभिव्यक्ति पूर्वसिद्ध वस्तु की ही होती है–फलतः वासनात्मक शक्तिरूप से पूर्वस्थित वासना की अभिव्यक्ति मानली जाय–तो प्रकाशक या व्यंजक की तरतमता का प्रभाव प्रकाश्य पर भी पडेगा–वह रसानुभूति निरतिशय न होकर तरतमभावापन्न होगी–जो अभिव्यक्तिवादी को अभीष्ट नहीं। इसीलिए आत्मगत या परगत न तो रस की 'प्रतीति' सम्भव है और न ही 'उत्पत्ति' तथा 'अभिव्यक्ति'। फलतः भट्ट नायक को काव्यात्मक शब्द में अभिधा के अतिरिक्त दो और शक्तियों की यदि कल्पना करनी पड़ी–भावना तथा भोग की। भट्टनायक द्वारा इन दो शक्तियों की परिकल्पना से पूर्व 'शब्द' की केवल अभिधा (या अधिक से अधिक लक्षणा) शक्ति स्वीकृत थी जो प्राथमिक स्तर पर वाक्यार्थबोध या शाब्दबोध सम्पादन में उपयोगी है। सर्ववादिसंवादी रसप्रतीति को तो अभिधावादियों को भी उपपन्न करना ही था–अतः वे अभिधा के ही स्तर पर सोचते रहे होंगे और अभिधा द्वारा असाधारण रूप में प्रतीत सामग्री के संस्कार-परिष्कार की बात करते रहे होंगे–पर बात बनती न देखकर भट्टनायक को अतिरिक्त शक्ति की प्रकल्पना करनी

पड़ी होगी। इसी कारण यह अनुमान या कल्पना होती है कि भट्टनायक से पूर्व ही इस प्रकार की उधेड़बुन चल रही होगी–अर्थात् 'असाधारण' को 'साधारण' बनाकर सर्वानुभवसिद्ध रसप्रतीति की संगति बिठाने का प्रयत्न होता रहा होगा। मतलब भट्टनायक से पहले ही 'साधारणीकरण' की आवश्यकता महसूस की गई होगी।

भट्टनायक ने इस संदर्भ में अपना चिन्तन जोड़ा और काव्य की *"भावना' नामक शक्ति की (अभिधा को तदर्थ अशक्त मानकर) परिकल्पना की। यह संज्ञा शब्द मीमांसा से लिया गया है। अभिनवगुप्त ने कहां है– "*विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वाद-रूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनातदभ्युगतमेव*"[७]

'भावन' व्यापार से सामग्री मे वह योग्यता पैदा की जाती है। 'भावन' व्यापार से काव्य-नाट्यादि रसोपयोगी सामग्री में आस्वादोत्पादन की योग्यता आ जाती है।

टिपण्णी : *भावनाः – यह मीमांसा दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। मीमांसा 'धर्म' का प्रतिपादन करती है। प्रेरक वेदवाक्य धर्म के प्रतिपादक हैं–यह धर्म है–यागादि कर्म। एक उदाहरण लें–"स्वर्गकामो यजेत" यह वेद वाक्य है जो स्वर्ग कामी को याग करने की प्रेरणा देता है। इस विधिवाक्य में 'यजेत' क्रिया में दो अंश हैं–यजि धातु तथा प्रत्यय। प्रत्यय में भी दो अंश हैं–आख्यातत्व और लिङ्त्व। आख्यातत्त्व एक सामान्य धर्म है जो सभी लकारों में सामान्य रूप से विद्यमान है–व्यापक है, पर लिङ्त्व केवल लिङ्लकार में ही है। इन दोनों अंशों (आख्यातत्त्व तथा लिङ्त्व) से 'भावना' ही अभिहित होती है। भावना उत्पादक या भावयिता का–प्रयोजक का–उत्पद्यमान की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार विशेष है। 'भावना' णिजन्त है–अतः यहाँ प्रयोजक और प्रयोजन का संदर्भ आएगा ही। जैसे उत्पद्यमान ओदन की उत्पत्ति के अनुरूप उत्पादक देवदत्त का व्यापार विशेष आर्थी भावना है। देवदत्त में तदर्थ उत्पद्यमान जो प्रवृत्ति है–तदनुकूल प्रवर्तक का व्यापार शाब्दी भावना है। इस प्रकार प्रयोजक का व्यापार शाब्दी भावना हैऔर प्रयोज्य का व्यापार आर्थीभावना'। इस प्रकार 'भावना' द्विविध है। शाब्दीभावना लिङंश से और आर्थीभावना आख्यातांश से व्यक्त होती है। लौकिक वाक्य में यह शाब्दीभावना पुरुषनिष्ठ अभिप्राय है–पर वेद में पुरुष का संबंध न होने से लिङादि शब्दगत ही मानी जाती है। यही कारण है कि इसे शाब्दीभावना कहा जाता है। इस शाब्दीभावना के तीन अंश है–साध्य, साधन, तथा इतिकर्तव्यता अर्थात् भाव्य क्या है, भावना का करण क्या है और-प्रक्रिया क्या है? साध्य है-आर्थी भावना-और वह भी त्र्यंश है–साध्य, साधन तथा प्रक्रिया। एक ही प्रत्यय से दोनों गम्य हैं। लिङ्गविधान शाश्वत है–यह उत्पादक करण नहीं, ज्ञापक करण है। लिङादिज्ञानसाधन है- यह उत्पादक करण नहीं, ज्ञापक करण है. इसमें इतिकर्तव्यता है- अर्थवादज्ञाप्य प्राशस्त्य आदि। आर्थीभावना प्रयोजन की इच्छा से उत्पन्न क्रिया विषयक व्यापार है। इसका बोध आख्यातांश से होता है। इसमें साध्य है–स्वर्गादिफल, साधन है–यागादिकरण, इतिकर्तव्यता में प्रयाज।

भावित और अभावित सामग्री में यही अन्तर है कि अभावित (अभिधानीत) सामग्री में आस्वाद पैदा करने की योग्यता (साधारणीकरण के अभाव में) नहीं होती जबकि भावित में यह योग्यता आ जाती है। यह योग्यसामग्री ही सामाजिक के 'भोग' में उपयोगी होती है।

भट्टनायक काव्य को भावक और स्थायी को भाव्य मानते हैं। एक बात इस संदर्भ में और ध्येय है। काव्य की अभिधा, भावना और भोग की परम्परा से जुड़ी है–इसलिए शास्त्रगत शब्द की अभिधा से उसका अपना व्यतिरेक है–ठीक उसी प्रकार जैसे शास्त्र का 'तंत्र' और काव्य का 'श्लेष'–अनेकार्थकता दोनों में है–परन्तु दोनों की प्रकृति काव्य और शास्त्र की मूलप्रकृति के भेद के कारण मिटा है। काव्यात्मक शब्द में वाच्यार्थ की दृष्टि से अभिधा, रस की दृष्टि से भावकत्व तथा सहृदय की दृष्टि से भोजकता व्यापार माना गया है। प्रस्तुत प्रसंग 'भावकत्व' या 'साधारणीकरण' पर विचार को केन्द्रित करने का है।

भट्टनायक की 'भावना' शक्ति सामग्री में आस्वाद योग्यता पैदा करती है–अर्थात् वह उसे इस लायक बना देती है कि आस्वाद में उपयोगी बन सके। अभिधा द्वारा उपस्थापित सामग्री असाधारण होने से आस्वाद पैदा करने में अक्षम है। परन्तु भट्टनायक की भावना या साधारणीकरण निःसीम नहीं है–परिमित है। देव कोटि के सीता आदि पात्रों का साधारणीकरण श्रद्धाबुद्धि के कारण संभव नहीं है। राम, कृष्ण, शिव अ-लोक सामान्य हैं-उनका साधारणीकरण संभव नहीं है। इनके द्वारा सम्पादित सेतुबंध आदि कार्य का भी साधारणीकरण कैसे संभव है? हनुमान ने अब्धिलंघन में जिस लोकोत्तर उत्साह का अनुभव किया होगा-क्या उसका साधारणीकरण संभव होगा? उत्साह गुणयुक्त हनुमान का स्मरण संभव है? जब अनुभव ही उनका नहीं है तो स्मरण कहाँ से होता? इस प्रकार साधारणीकरण की परिमिति माननी पड़ती है। केवल बाह्य विषय (पात्र, उनके कार्य कलाप आदि) ही नहीं आंतरिक भाव का भी अपरिचित साधारण्य संभव नहीं है–पर ऐसे अलोक सामान्य पात्र, उनके कार्यकलाप और भाव-से घटित काव्यसामग्री से सहृदय आस्वाद लाभ करता है। आस्वादोद्‌बोधक बाह्यसामग्री यदि प्रतिबंधक (श्रद्धा बुद्धि) के अभाव से युक्त है–आस्वाद सर्ववादिसम्मत है–तो वहाँ तक साधारणीकरण की सीमा मानी जा सकती है–पर आंतरिक स्थायीभाव-अलोक सामान्य आन्तरिक उत्साह - आदि का जब वासनात्मक शक्तिरूप से अंतस् मे पूर्व स्थिति ही नहीं हैं–तो उद्‌बोध किसका होगा? दूसरी बात

यह भी है कि अभिव्यक्तिवादियों के हिसाब से मान भी लिया जाय-तो निरतिशय रसास्वाद में सातिशयता का प्रसंग आपतित होगा–जो असंगत है। अतः यही मानना होगा कि काव्यवर्णित स्थायी ही भावना व्यापार से साधारणीकृत हो जायेगा-फलतः उसमें आस्वाद योग्यता आ जायगी। यह स्थायी सामाजिक की अपनी वासना है ही नही–काव्य में जैसा है-वैसा आस्वाद गोचर हो जायगा-फलतः उसमें कहीं कोई अड़चन नहीं है।

भट्टनायक सम्मत साधारणीकरण के संबंध में 'अभिनवभारती' कहती है–" *निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रस...*[८] *भुज्यते*–इस अंश की व्याख्या में विद्वानों के बीच मतभेद पैदा हो गया है–इस उद्धृत पंक्ति में भावकत्व-व्यापार का परिचय देते हुए कहा गया है– १) निविडनिजनिमोहसङ्कटतानिवारण कारिणा २) साधारणीकरणात्मना

यह भावकत्व दोषाभाव, गुण एवं अलंकारमय काव्य तथा चतुर्विध अभिनयरूप नाट्य–में ही संभव है। आस्वाद के संबंध मे क्रमागत तीनों पक्ष–प्रतीति, उत्पत्ति और अभिव्यक्तिन न तो स्वगत रूप में उपन्न हो सकते हैं और न परगत। इसके लिए युक्तिवादी पक्ष ही बन पाता है–पर स्थायी के रसात्मक भोग में उपादेय सामग्री में पात्रता का आख्यान आवश्यक है–जो भावकत्वव्यापार से ही संभव है। यह भावकत्व व्यापार उपर्युक्त विशेषणों से मण्डितकाव्य और तथाविधनाट्य प्रस्तुति के कारण संभव है। इस तरह के काव्य और नाट्य के परिशीलन तथा प्रेक्षण से प्रेक्षक की चेतना पर छाया हुआ मोह का प्रतिबंधकारी संकट निवारित हो जाता है। मोह संकट का निवारण भावकत्व का परिणाम है। इस पंक्ति में भावकत्व का स्वरूप है–साधारणीकरणात्मा।

डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त 'साधारणीकरणात्मा' में आत्मा का आशय 'स्वरूप' नहीं, 'सार'[९] करना चाहते है और 'भावकत्व' को व्यापक तथा साधारणीकरण को उसका सारभाग कहकर सर्वथा पर्याय मानने पर आपत्ति करते हैं। अभिनवगुप्त का साक्ष्य (*भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमेव*) देकर वे अपनी बात की पुष्टि करते हैं। *भावकत्व-काव्यशब्दगतभावकत्व विभावादिगत* साधारणत्व का आपादन तो है ही, 'गुणालंकार परिग्रहात्मक भी है–अतः साधारणीकरण से उसकी परिधि व्यापक है। उनके अनुसार काव्यशब्द भावकत्व व्यापार द्वारा 'रस (स्थायी) भावन करता है जबकि विभावादि साधारणीकरण व्यापार द्वारा प्रभाव चेतना का मोह–संकटता–निवारण-

करता है। मतलब भावकत्व व्यापार काव्यशब्दगत है और साधारणीकरण व्यापार विभावादिगत है। अतः दोनों यानि भावकत्व और साधारणीकरण–दोनों एकदम पर्याय नही[१०] हैं दूसरा पहले का सार भाग है।

डॉ. गुप्त की इस मान्यता पर स्वामी सुरजनदास को आपत्ति है। उनका पक्ष है कि भावकत्व और साधारणीकरण दोनों पर्याय हैं–एक व्यापक और दूसरा व्याप्य है–ऐसा नहीं। दूसरा यह कि डॉ.गुप्त नैयायिक सम्मत पारिभाषिक व्यापार और प्रक्रान्त रसभावन के प्रसंग का व्यापार (साधारणीकरण) दोनों की स्वतंत्र स्वरूप-स्थिति को गड्ड-मड्ड कर देते हैं। नैयायिकों के व्यापार क्रियात्मक, गुणात्मक तथा अन्यरूपात्मक भी हो सकते हैं–पर प्रकान्त प्रसंग का व्यापार नियतरूप से क्रियात्मक ही है। उदाहरण लें–कुठार से दारु-छेदन में कुठार दारु संयोग व्यापार है। स्पष्ट ही नैयायिक की दृष्टि में यह 'संयोग' गुण है न कि क्रिया। डॉ. गुप्त की यह समझ भी गलत है कि कुठार का उत्पतन-निप्पतन-संस्पर्श-प्रवेश आदि भी अवान्तर व्यापार ही हैं-जो कुठारदारु संयोग में सन्निविष्ट फलतः प्रधानता के कारण कुठार दारु संयोग को ही आन्तरालिक व्यापार कह दिया जाता है। वस्तुतः अवान्तर व्यापार कुठारदारु संयोग ही है–क्योंकि दारु का द्विधाभाव इसी का अव्यवहितोत्तर परिणाम है- न कि केवल उत्पतन निपतन आदि अवान्तर व्यापारों का। कमजोर व्यक्ति के कुठार में ये सारे व्यापार होते रहें–संभव है द्विधाभवन न हो–होने को तो संयोग से भी नहीं हो सकता-पर यदि होगा तो 'संयोग' से ही। अतः व्यापार कुठारदारु संयोग ही होगा। इसी प्रकार 'याग़' और उसके फल 'स्वर्ग' के बीच मीमांसक 'अपूर्व' को व्यापार मानते हैं। नैयायिकों का पारिभाषिक व्यापार 'अपूर्व' भी है। वह करणभूत याग से जन्य है और याग से जनित स्वर्ग का जनक भी है–फलतः उसमें 'तज्ञन्यता' भी हैं और ''तज्ञन्यजनकता' भी। यही नैयायिकों का पारिभाषिक व्यापार है–जो अनियतस्वरूप वाला है-वह सामान्य क्रियात्मक भी हो सकता है, गुणात्मक (संयोग) भी हो सकता है और इन सबसे भिन्न अपूर्वात्मक भी। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रतिभा भी 'शक्ति ,व्युत्पत्ति तथा अभ्यास' रूप काव्यहेतु का व्यापार ही है।

डॉ.गुप्त की मान्यता में दूसरी आपत्ति यह भी है कि भावकत्व काव्यशब्द से जनित नहीं है अपितु तदाश्रित है–उसकी क्षमता या शक्ति है–जो दोषाभावगुणालंकारादि से मण्डित होने पर उसमें उपजती है। फलतः काव्यशब्द से जन्य न होने के कारण 'व्यापार' है भी नहीं।

तीसरी आपत्ति परवर्ती चिन्तकों की प्रमाणपरम्परा है। सभी मानते हैं कि भावकत्व और साधारणीकरण परस्पर सर्वथा पर्याय हैं। अभिनवभारती कहती है–

विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण[११] *'लोचन' में भी कहा गया है –'तच्चैतद् भावकत्वं नाम रसान् प्रति*[१२] *यत्काव्यस्य तद् विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम'। पण्डितराज भी कहते हैं– तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्थाः भावकत्व-व्यापारेणागम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबंधद्वारा कान्तात्वदिरसानुकूलधर्म पुरस्कारे-णावस्थाप्य"*[१३]–

फलतः '*भावकत्वव्यापारेण साधारणीकरणात्मना*'[१४] में 'आत्मा' शब्द 'स्वरूप' का ही बोधक है न कि 'सार' का। भावकत्व व्यापार द्वारा सामाजिक के हृदय में सामग्री में विभावादिता आने से पूर्व व्यक्ति (रामादि) गत संबंधों का जो मोहसंकट छाया रहता है–वह हटा दिया जाता है–मोहसंकटता का इतना ही आशय तमोगुण रजोगुण की विनिवृत्ति। यह सब 'भोग' काल में होता है। वैसे विभावादि सामग्रीपर सामाजिक की चेतना की एकाग्रता से रजस्तमोनिवारण का भी मोहसंकट निवारण की परिधि में समावेश हो सकता है।

भट्टनायकसम्मत साधारणीकरण का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए एक बिंदु और विचारणीय है। कुल मुद्दे तीन हैं-

१. साधारणीकरण की आवश्यकता क्या हैं और किस पक्ष में है?
२. साधारणीकरण का स्वरूप क्या है?
३. साधारणीकरण होता किस-किस का है?

दो मुद्दों पर भट्टनायक का पक्ष रखा गया। तीसरा पक्ष शेष है। डॉ. गुप्त मानते हैं कि केवल विभावादि का साधारणीकरण होता है-न कि स्थायी का[१५]। पता नहीं किस आधार पर डॉ.गुप्त ने यह मत बना लिया? किसी के अंतस् में स्थित स्थायी उसके व्यक्ति से कैसे असंबद्ध हो जायेगा? क्या रामादि पात्रगत स्थायी का रामादि-व्यक्तिविशेष के संबंध से रहित है? कदापि नहीं-अतः उसका भी साधारणीकरण या भावन होता है–फलतः उसकी भुज्यमानता की पूर्वपीठिका तैयार होती है।

जो भी हो, पर साधारणीकरण के क्षेत्र में भट्टनायक के योगदान को स्वीकार करना ही होगा। इनके पूर्व प्रतीतिवादियों की परिकल्पना में अनेक त्रुटियाँ रह गई थीं–जिनका परिमार्जन भट्टनायक ने किया।

श्रीमदभिनवगुप्तसम्मत साधारणीकरण

अभिनवगुप्त द्वारा उपस्थापित साधारणीकरण के दो खंड हैं–एक तो भट्टनायक से असहमति और दूसरे स्वयम् की प्रस्तुति। भट्टनायक से अपनी असहमति तथा स्वतंत्र अपनी प्रस्तुति अभिनवगुप्त ने 'लोचन' और 'अभिनवभारती' में की है–परन्तु विस्तारपूर्वक असहमति और आलोचना 'लोचन' में ही हुई है।

अभिनवगुप्त आत्मसम्मत पक्ष रखें–उससे पूर्व भट्टनायक द्वारा उपस्थापित प्रश्नों का समाधान उन्हें देना है। भट्टनायक की कई आपत्तियाँ है। उनका पहला पक्ष है–'न प्रतीयते...रसः"। अभिनव[१६] कहते हैं कि 'रसप्रतीति' होती ही नहीं-यह सर्वथा अस्वीकरणीय है। जब उसको प्रतीति ही नहीं होती-तब तो पिशाचादि के समान अव्यवहार्य है। जिसकी प्रतीति ही नहीं - उसकी सत्ता ही क्यों मानी जाए? 'प्रतीति' विविध उपायों से होती है - अतः भिन्न-भिन्न हो सकती है - पर उसकी प्रतीति ही नहीं होती -यह मानना असंभव है। प्रतीति प्रत्यक्ष, अनुमान,उपमान, शब्द आदि विभिन्न प्रमाणों से होती है–इसी प्रकार 'रसप्रतीति' भी काव्यात्मक शब्द और नाट्य से सुन-देखकर होगी ही। जिसे चर्वणा, रसना आदि कहा जायगा। हाँ यदि भट्टनायक 'अभिव्यक्ति' नही मानते–तो एक ही संभावना शेष रह जाती है और वह है 'उत्पत्ति' की। क्या भट्टनायक 'उत्पत्ति' मानते हैं? पर इसका तो वे स्वयम् निषेध करते हैं–'नोत्पद्यते' कहकर।

'अभिव्यक्ति' मानने में भी भट्टनायक को कई आपत्तियाँ हैं-एक तो यह कि व्यञ्जक के तारतम्य से सामाजिक की वासना में–उसके व्यक्तरूप 'भाव' (काव्य के क्षेत्र में साधारणीकृत भाव) की भूमि पर होने वाली रसप्रतीति में तरतम भाव आएगा–जबकि माना यह जाता है कि वह प्रतीति निरतिशय है। दूसरी आपत्ति यह है कि व्यक्ति या अभिव्यक्ति पूर्वसिद्ध की होती है-क्या 'रस' पूर्वसिद्ध है? पहली अपत्ति का समाधान करते हुए अभिनव यह कहते हैं निरतिशयता 'पूर्णता' परामर्श को लेकर कही जाती है आस्वादयिता द्वारा आस्वाद्य भाव की भूमि पर तरतमभाव तो रहेगा ही। चित्त या चित् पर छाई हुई मोहसंकटता के हटने में तारतम्य संभव है। दूसरी आपत्ति के विषय में उनका उदाहरण है-"*ओदनं पचति-इतिवत्*"–भोजन बन रहा है–भात पक रहा है-इन व्यवहार वाक्यों में असिद्धावस्था में ही सिद्धावस्था का जैसे व्यवहार होता है–वैसे ही 'रसाःप्रतीयन्ते' को भी समझना चाहिए। 'कुर्ता बन रहा है'–का आशय है कि कपडा इस तरह बनने की प्रक्रिया में है–जो आगे चलकर 'कुर्ता' (सिद्ध)

होगा। अभिप्राय यह कि 'रसाः प्रतीयन्ते' का आशय यह नहीं है कि वह 'रस' सिद्ध है–नहीं, सिद्ध होने की प्रक्रिया में–पहले वह असिद्ध ही है।

भट्टनायक की अगली आपत्ति यह है कि सामाजिक का 'हृदयसंवाद' लोकोत्तर अनुकार्य रामादि से कैसे संभव होगा? साथ ही यह कि लोकोत्तर (हनुमान का अब्धिसंतरण संबंधी) 'उत्साह' चर्व्यमाण कैसे होगा? मानव सामाजिक में इस स्तर का भाव वासनारूप में है ही नहीं-तो अविद्यमान का आस्वाद कैसे होगा? लोकोत्तर पुरुषों का अनुभव होता-तो स्मृति से उठाकर यह सब संभव भी होता पर सबको अनुभव कहाँ है? और परगत 'भाव' के देखने सुनने से भी क्या वह साक्षात् स्वानुभवगोचर हो जायगा? इन आपत्तियों से बचने के लिए भट्टनायक काव्य और नाट्यगत भाव का ही साधारणीकरण मान लेते हैं।

अभिनवगुप्त इसका समाधान पातञ्जल[१७] दर्शन और शैवागम के आधार पर करते हैं। उनका कहना है कि पतंजलि मानते हैं कि 'उस कर्म से जन्म, आयु तथा भोग के रूप का जो विपाक-विपचन-बनता है उससे जितनी वासनाएँ अनुरूप पड़ती हैं-उन्ही की अभिव्यक्ति होती है-शेष गुप्त रहती हैं। अभिप्राय यह कि विपाक से अनुबद्ध वासनाएँ प्रकाशित होती हैं। अद्यतन के अनुगुण तथा इनके द्वारा व्यक्त होनेवाली वासनाएँ और इनके मूलसंस्कार -दोनों जन्म, देश तथा काल का व्यवधान होते हुए भी प्रकाशित होती हैं। इन वासनाओं के संस्कार एकरूप हैं। ये वासनाएँ अनादि हैं–अतः इनकी इदमित्थं सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती–जैसा भट्टनायक कहते हैं। 'मेरा अभाव न हो, –मैं रहूँ'–यह भाव प्राणिमात्र में होता है और स्वाभाविक या निर्निमित्त होता है–मरणत्रास का अनुभव हुए बिना। सद्योजात प्राणी में भी उक्त भाव स्वभावतः होता है–फलतः यह भाव निमित्त वश किसी वासना का अवलंबन कर पुरुष के भोगार्थ उपस्थित होता है। इस विचारधारा (पुनर्जन्मवादी या कर्मवादी) के अनुसार अभिनव मानते हैं कि वासनाओं की कोई सीमा नहीं है–वे अनन्तवैचित्र्य से संवलित[१८] हैं।

इस पर से भी यह सवाल खड़ा किया जा सकता है कि वासनाएँ अनादि हैं और अनन्त वैचित्र्य संवलित हैं–फलतः वे निःसीम हैं–इसे मान लेने पर भी यह जिज्ञासा अनुत्तरित रह जाती है कि सामाजिक मानव लोकोत्तर रामादि के लोकोत्तर भावों से 'संवाद' और 'तन्मयीभाव' कैसे कर सकेगा? अभिनवगुप्त अद्वयी शैवागामिक हैं। उनके अनुसार प्रत्येक जीव 'शिव' ही है–अन्तर इतना ही है कि 'शिव' कंचुकित नहीं

हैं–जीव 'कंचुकित' है। लीला के लिए 'शिव' ही आत्मशक्तिसे 'जीव' हो गया है। अतः मानव सामाजिक (जीव) में भी शिवाभिन्न होने के नाते लोकोत्तर वासनाएँ विद्यमान हो सकती हैं। कोई अड़चन नहीं है।

भट्टनायक से अभिनव इस मान्यता में भी असहमत हैं कि काव्यात्मक शब्द की तीन शक्तियाँ हैं–अभिधा के साथ भावना और भोग। अभिनव ने दोनों को अस्वीकार कर दिया है। 'भावना'–जैसा कि पहले कहा जा चुका है–मीमांसादर्शन का पारिभाषिक शब्द है-यह शाब्दी और आर्थी द्विविध है। पहली शब्दगत है और दूसरी (पुरुषरूप) अर्थगत। यहाँ आर्थी का दृष्टान्त[२०] ही उपयोगी है।

चित्र इस प्रकार है –

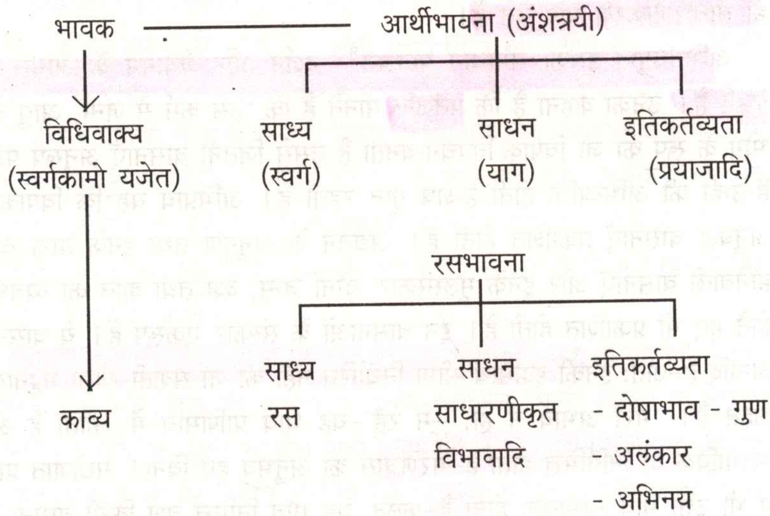

काव्यगत भावकत्व व्यापार से स्थायी में आस्वादगोचर होने की अर्हता आहित हो जाती है। काव्य-नाट्य की सामग्री में भी विभावन (आदि) की क्षमता आ जाती है। फिर विभावादि से भावित स्थायी का भोजकत्व नामक व्यापार से भोग होता है। अभिनव को इस पर आपत्ति है। उनका कहना है कि रसास्वाद भावना और भोग से काव्यादि में हो भी जाय तब भी 'वस्तु' और 'अलंकार' की 'व्यंजना' का क्या होगा? वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि-के निमित्त व्यंजना स्वीकार करनी ही होगी-वहाँ भावकत्व भोजकत्व काम नहीं करेगा? यह कहना कि काव्य में 'रस' ही प्रतिपाद्य

और आस्वाद्य होता है-वस्तु और अलंकारध्वनि नहीं–क्योंकि अंततः वे भी रसोद्बोध में ही पर्यवसित होते हैं–ठीक नही । रचनाकार का प्रातिभसंरभ जहाँ होता है–वही प्रतिपाद्य और प्रधान होता है। कौन कहेगा कि 'भम धाम्मिय...में रचनाकार का प्रातिभसंरंभ 'वस्तुव्यंजना' में नहीं है? ऐसे संदर्भों में भी 'रस' ही देखना रसान्धता है। अभिप्राय यह कि ऐसे काव्यों के लिए 'व्यंजना' का स्वीकार अनिवार्य है। भावकत्व और भोजकत्व के स्वीकार के वावजूद 'व्यंजना' माननी पड़ती है। ऐसी स्थिति में यदि 'व्यंजना' से ही इन दो कल्पित व्यापारों का कर्म सम्पन्न हो जाता है-तो इस निरर्थक कल्पना का क्या उपयोग?

अभिनव का कहना है कि भावकत्व केवल शब्द या केवलअर्थ में संभव नही है–तदर्थ उसे सामर्थ्य के रूप में मानना होगा। दूसरी बात यह कि भावकत्व काव्य-शब्द या काव्यात्मक शब्दार्थ में तभी आता है–जब वह दोषाभाव गुणालंकार मण्डित हो। दोषाभाव गुणालंकार मण्डित शब्दार्थ गत सामर्थ्य ही तो 'भावकता' है- व्यंजना क्या कुछ और है? इस प्रकार यह भावकत्व केवल पर्याय भर है–स्वतंत्र कोई नयी कल्पित शक्ति नही। भावकत्व को त्र्यंश मानने पर चित्र इस प्रकार होगा–

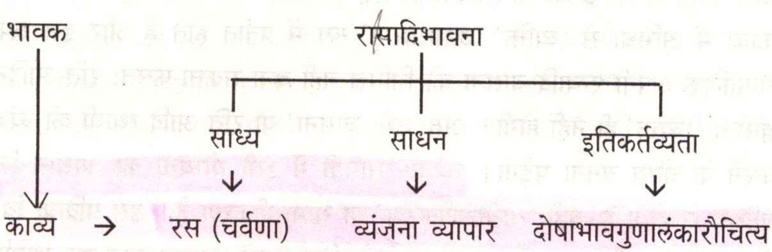

इस प्रकार अतिरिक्त भावकत्व नामक शक्ति के स्वीकार की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बात और। यह सहित्यशास्त्र है–मीमांसाशास्त्र नहीं। यहाँ आचार्यों ने 'भावना' को पुनः पुनः अनुसंधानानात्मां-माना है। इसीलिए पण्डितराज भी कहते हैं–'भावना च पुनः पुनः अनुसंधानात्मा'[२१]–इसी भावना सहकृत सहृदयता के बल से आस्वाद की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। 'भावकत्व' पर विचार रसनिष्पत्ति के संदर्भ में किया जायगा।

यहाँ तक तो भट्ट अभिनवगुप्तपाद की ओर से भट्टनायक द्वारा उठाई गई आपत्तियों का समाधान किया गया। सम्प्रति यह देखना चाहिए कि वे क्या कहते हैं।

अभिनवगुप्त ने यद्यपि पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों में त्रुटियाँ निकाली हैं–फिर भी कहा है–

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनान्ति[२२]*॥*

अर्थात् वे पूर्ववर्ती सज्ञनों को दूषित नहीं करते–प्रत्युत उनके कंधे पर बैठ कर आगे का रास्ता तय करते हैं। उन पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का शोधन करते हैं। अपना पक्ष रखते हैं और मौलिक प्रतिष्ठापना का लाभ लेते हैं। यह प्रसंग केवल साधारणीकरण से संबद्ध चर्चा का है।

अभिनव अभिव्यक्तिवादी है–अतः मानते हैं कि सहृदय अपनी ही वासना का आस्वाद लेता है–वासना का आस्वाद तभी लेगा जब वह 'व्यक्त' होगी। 'व्यक्त होने का कोई कारण होना चाहिए? वे कारण हैं–विभावाादि। लोक के कारण, कार्य, सहकारी ही काव्य एवं नाट्य में आकर आलैकिक विभावादि संज्ञा से उल्लपित होते हैं। वे ही लैकिक अर्थ काव्य और नाट्य के क्षेत्र में आकर अपनी लैकिक रूपता-देश, काल, व्यक्तिविशेष से संबद्धता-खो देते हैं। इतना ही नहीं–व्यावहारिक लाभ–हानि से भी उनका संबंध विच्छिन्न हो जाता है- वे सामान्यीकृत हो जाते हैं। काव्य में अभिधा से 'व्यक्ति' 'असाधारण' रूप में प्रतीत होते हैं और इस रूप में सामाजिक अपनी रत्यादि वासना को निमित्त नहीं बना सकता-फलतः रति-आदिरूपा वासना 'व्यक्त' ही नहीं होगी। अतः उसे 'वासना' या रति आदि स्थायी की व्यंजना करने के योग्य बनना पड़ेगा। व्यंजक सामग्री में इसी योग्यता का आधान जिस, प्रक्रिया से होता है–वही 'साधारणीकरण' या सामान्यीकरण है। इस प्रक्रिया विशेष में ढलकर सामग्री साधारणीकृत हो जाती है–फिर उसमें 'सहृदय-हृदय-गत स्थायी के व्यक्तीकरण की योग्यता आ जाती है।

काव्यसामग्री से देश-काल-व्यक्ति-विशेष का संबंध कैसे विगलित होता है–यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने कई बातें कहीं हैं–कई दृष्टान्त भी दिए हैं। उनमें पहली बात यह है कि मंचस्थ नट को प्रेक्षक व्यक्तिगत रूप से भी-अर्थात् वर्तमान या भिन्न देश-काल–व्यक्ति-विशेष से संबद्ध करके जानता है–साथ ही जब उसे मुकुट या प्रतिशीर्षक (पगड़ी-साफा) आदि से मण्डित रूप में देखता है-तो नट विषयक बुद्धि आच्छन्न हो जाती है। इसतरह जब दो विभिन्न परस्पर विरोधी देश-काल-व्यक्ति विशेष के संबंधों में (परस्पर विरोधी होने के कारण) टकराहट होती है–तो दोनों में से कोई भी नहीं

रह पाता। न नट का देश-काल-व्यक्ति विशेष वाला संबंध और न ही राम वाला देश-काल-व्यक्ति- विशेष का संबंध-दोनो परस्पर विरुद्ध होने से ध्वस्त हो जाते हैं–वह संकोचक संबंधों से मुक्त होकर 'सामान्य' (व्यक्ति की जगह-असाधारण की जगह) बन जाता है।

काव्यात्मक शब्दों में ही नहीं, पौराणिक और वैदिक भी ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिन से अधिक भी व्यक्ति वाच्यार्थ से कुछ अतिरिक्त ग्रहण करते हैं और वह अतिरिक्त सामान्य अर्थ उसके हृदयमें अनुप्रविष्ट हो जाता है। एक पौराणिक दृष्टान्त और एक वैदिक प्रसंग अभिनव ने दिया है। पौराणिक वाक्य यों है –

आरोग्यमाप्तवान् साम्बः स्तुत्वा देवमहर्पतिम्।
स्वादर्थावगतिः पूर्वमित्यादिवचने यथा।
ततश्चोपात्तकालादिन्यक्कारेणोपजायते।
प्रतिपत्तुर्मनस्येवं प्रतिपत्तिर्न संशयः।
यः कोऽपि भास्करं स्तौति सर्वोऽप्यगदो भवेत्।
तस्मादहमपि स्तौमि रोगनिर्मुक्तये रविम्[२३] *॥*

अर्थात् "साम्ब ने सूर्य का स्तवन किया और ऐसा करके उसने आरोग्य लाभ किया।" प्रतिपत्ता पहले इस वाक्य से देश-कालविशेष से संबद्ध व्यक्ति विशेष के फलदायी क्रियाकलाप का बोध करता है। तदनन्तर उस वाच्यार्थ से हटकर एक सामान्य निष्कर्ष निकालता है और फिर उससे स्वयम् जुड़ जाता है–वाच्यार्थ से अतिरिक्त वह सामान्य अर्थ प्रतिपत्ता के दृश्य में अनुप्रवेश कर उसे कृतार्थ करता है। इस तरह क्रम हुआ -

प्रथम स्तर – वाच्यार्थ या प्राथमिक स्तर का व्यक्ति परक अर्थ
द्वितीय स्तर – सामान्य (व्यक्ति) अर्थ
तृतीय स्तर – प्रतिपत्ता के दृश्य में उसका अनुप्रवेश और उसकी कृतार्थता

एक वैदिक उदाहरण भी दिया–"वनस्पतयः[२४] सत्रमासत–वनस्पतियों ने सत्र आरम्भ किया तामग्नौ प्रादात्" उसे अग्नि में आहुत किया। इस वाक्य से प्राथमिक अर्थव्यक्ति सम्बद्ध है। बादमें देश-काल-आदि का (व्यक्ति का संकोचक) संबंध हट जाता है और बात 'सामान्य' परक हो जाती है–"इस तरह सत्र किया जाता है–इस तरह हवन किया जाता है।" इस सामान्य प्रतिपत्ति का अधिकारी व्यक्ति भी उस कृति में प्रवृत्त होकर कृतार्थता का अनुभव करता है। मीमांसा में इसे ही भावना विधि या नियोग कहा जाता है।

इन्ही उदाहरणों से हम काव्यवाक्यों को भी समझने का उपक्रम करें। काव्य वाक्यों से भी विमल प्रतिभानशाली अधिकारी ग्रहीता इसी क्रम से व्यक्तिसंबद्ध वाच्यार्थ से अतिरिक्त साधारणीकृत अर्थ का अधिगम करता है। यह सही है कि ऐसी वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति सबको नहीं होती–इसके लिए प्रतिपत्ता को विमल प्रतिभानशाली होना चाहिए। अब एक काव्यवाक्य लें–

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति[२५] *॥*

शाकुन्तल का श्लोक है। विमल प्रतिभानशाली प्रतिपत्ता पढ़ रहा है। प्राथमिक स्तर पर एक विशेषहरिणी शिशु-जो मृत्युभय से ग्रस्त है–तदनुरूप मुद्रा में बेतहाशा भागता चला जा रहा है–इस वाच्यार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। तदनन्तर प्रतिपत्ता की चेतना से सभी विशेष (देश, काल, व्यक्ति विशेष) विगलित हो जाते हैं–प्रतीतिमात्र काव्य में परमार्थ होती है–शेष सभी सामग्री उस 'प्रतीति' तक पहुँचने में साधन हैं - अपारमार्थिक हैं - इसीलिए प्रतीति मात्र तक पहुँचने वाला प्रमाता वह साधनसामग्री सत्य है या असत्य है–इस पचड़े में पड़ता ही नहीं। उसकी चेतना में अंततः 'भीति' रह जाती है–सारे विशेष विगलित हो जाते हैं–उस समय प्रमाता में यह चेतना भी नहीं रहती कि यह मम आत्मगत है या परगत या इनसे तटस्थगत। इस चेतना में उस भीति से तन्मय होने मे कोई बाधा भी नहीं होती–इसीलिए यह प्रतीति 'वीतविध्न प्रतीति' कही जाती है। इस प्रतीति में न तो सामग्री के विषय में आत्मसंबद्धता का उल्लेख रहता है और न सर्वथा अनुल्लेख ही, परसंबद्धता का बोध या तटस्थ संबद्धता का बोध तो घातक होगा ही–'प्रतीति' से जुड़ने में अवरोध पैदा करेगा। यह साधारणीभाव इसीलिए व्याप्ति की तरह असीमित होता है–धूम-अग्नि की व्याप्तिकी तरह। एक खास प्रकार के निमित्त से एक खास प्रकार की कृति बन रही है– उससे संकोचक संबंध विशेर्षो का अनुप्रवेश होता ही नही है।

काव्य और नाट्य में साधारणीकरण की प्रक्रिया अपने-अपने ढंग से होती है। काव्य में प्राथमिक (वाच्यार्थगर्भ) वाक्यार्थ प्रतीति के अनन्तर उन्हीं अर्थों का मानससाक्षात्कार होता है–मनःपटल पर वे अर्थ बिम्बरूप में उभरकर निर्विशेष बनते जाते हैं। नाट्य में मंच पर उपस्थित नट के प्रति जो एक परस्पर विरोधी प्रतीति

होती है–वे पारस्परिक टकराहट से स्वयम् विगलित हो जाती है। एकतरफ प्रेक्षक उसे देश-कालगत व्यक्ति विशेष के रुप में लेता है तो दूसरी ओर आहार्य अभिनय में विभिन्न देशकाल संबद्ध अनुकार्य समझता है-दोनों 'समझ' परस्पर विरोधी होने से टकराती है–फलतः स्वयम् एक दूसरे को निरस्त कर देती है–और 'सामान्य' हो जाती हैं–ऐसी समझ जिसमें दोनों की भिन्नता समाप्त हो जाती है।

साधारणीकरण को स्पष्ट करने के लिए अनेक पक्षों से विचार किया जाता है - १) आवशकता क्यों पडी? २) यह प्रतीति किस प्रकार की है? ३) यह होता किन-किन का है? पहले प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। दूसरा प्रश्न विचारणीय है। अभिनव ने तो इसका संकेत किया ही है–परवर्ती आचार्यो ने भी किया है-उसे और भास्वरता दी है। विवेचकों ने बताया कि यह प्रतीति न तो विशिष्ट 'यह दुष्यन्त या शकुन्तला है'–इस आकार की प्रतीति है और न ही यह 'कान्त अथवा कान्ता है'–इस आकार की सामान्य प्रतीति। कारण, पहली प्रतीति वासना के उद्बोध में बाधक है और उद्बोध करती भी है तो अनभीष्ट 'व्यसनिता' पर्यवसायी है। दूसरी प्रतीति 'सामान्या' की है–वह और भी घातक है। मंच पर खड़ी अभिनेत्री 'सामान्या' है यानी 'सर्वभोग्या' है? यह प्रतीति भी घातक है–किंन्तु इन उभयविधप्रतीतियों के निषेध के बावजूद 'प्रतीति' तो है वह किस प्रकार की प्रतीति है? इसलिए प्रकाशकार मम्मट ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि उनकी सोच के साँचे में विश्वमें कुछ भी 'असंबद्ध' रूप से प्रतीत नहीं होता–"असंबंधिनोऽप्रतीतिः" बात यह है कि विश्व भोक्ता और भोग्य में विभाजित है-प्रारब्ध वश जीव भोक्ता है और पदार्थ भोग्य। इसीलिए हर पदार्थ जो विश्व में है किसी न किसी से भोग्यरूपमें संबद्ध है-असंबद्ध कुछ है ही नहीं-फिर साधारणीकृत प्रतीति को संबधविहीन प्रतीति कैसे कहा गया? अर्थात् संबंध का सर्वथा अनुल्लेख असंभव है। अभिनव ने इसका संकेत किया है। मम्मट ने व्यावहारिक जगत् में सभी प्रकार की प्रतीतियों का उल्लेख किया है।

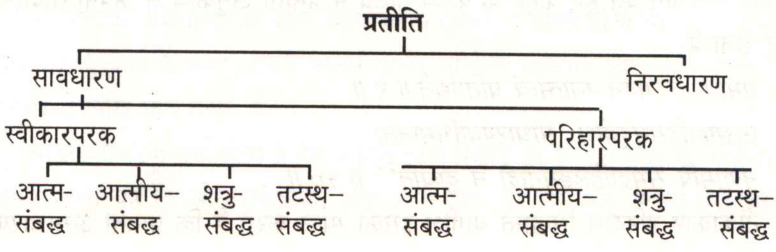

प्रतिपत्ता की चेतना पर प्रभाव डालने वालों का प्रमातृ चेतना से इतने ही प्रकार के संबंध हो सकते हैं। काव्य तथा नाट्य के क्षेत्र में इनमें से किसी भी प्रकार का संबंध बाधक है। आस्वादयिता न तो नियमतः किसी से संबद्ध अपने को समझता है और न ही असंबद्ध। प्रकाशकार–सावधारण के ही स्वीकार-परिहार के अनध्यवसाय की बात करते है–निरवधारण संबंध पर मौन है। प्रदीपकार गोविन्दठक्कुर ने इस संदर्भ में अभिनवगुप्त के संकेत (नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखित) का स्पष्टीकरण दिया है। उन्होंने ही कहा है कि 'प्रकाश' कार संबंधमात्र के स्वीकार का निषेध नहीं करते - नियमतः स्वीयसम्बन्ध के स्वीकार का निषेध करते हैं। इसलिए प्रदीपकार कहते है–"*स्वीयत्वासंसर्गग्रहात् स्वीयत्वसंसर्गग्रहप्रयोजनं संपद्यते*"[२६] स्पष्ट है कि यदि प्रमाता अपने को सर्वथा असंबद्ध कर लेगा-तो प्रभावात्मक प्रयोजन कैसे सम्पन्न होगा। इस प्रतीति में असंसर्ग का ग्रहण न होने से संसर्गग्रहण का प्रयोजन निष्पन्न हो जाता है। मतलब असाधारणता का साधारणीकरण में कहीं न कहीं अनुप्रवेश रहता है। प्रकाशकार ने कहा है–

"*ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति संबंधविशेष-स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतिः*[२७]"–सामाजिक सामग्री का नियम पूर्वक संबंध न स्वीकार करता है न तिरस्कार-। फलतः अनियमपूर्वक संबंध की जगह रह जाती है। प्रेक्षागार में बैठे हुए अन्य प्रेक्षकों के प्रति ईर्ष्या द्वेष का न उभरना इस बात का प्रमाण है कि यह संबंध व्यावहारिक स्वीयता की प्रतीति से भिन्न है। इस संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि यह विभाव (शकुन्तला) कान्ता-आदि के प्रति यह स्वीयता कलाजगत् की एक और ही प्रकार की स्वीयता है जो असामाजिक नहीं है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भट्ट नायक द्वारा उठाई गई इस आपत्ति का कि लोकोत्तर पात्रों से, उनके लोकोत्तर भावों से हमारा हृदयसंवाद किस प्रकार होगा?- इसका समाधान देते हुए कहा कि काव्य-नाट्य में प्रमाता अनुकार्य से अपना तादात्म्य कर लेता है–

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मत्वं प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः
नृणामपि समुद्राहिलङ्घनादौ न दुष्यति[२८] *॥ १० ॥*

टीकाकार हरिदास सिद्धान्त वागीश इसको स्पष्ट करते हैं कि प्रमाता असाधारण

'रामादि' में 'साधारण्य' विभाबादि के व्यापार के प्रभाव से पैदा कर लेता है। हृदयसंवाद कराने में विभावादि व्यापार की महिमा है–इससे प्रमाता पात्र से एकात्मता का अनुभव करता है। इस दृष्टि से 'साधारणीकृति' का अर्थ हुआ ।

'असाधारणेऽपि साधारणः क्रियतेऽनया। [२१] "

अर्थात्-असाधारण का 'साधारण' होना नही, 'असाधारण में साधारण हो जाना-असाधारण असाधारण ही रहे–प्रमाता उससे एकात्म हो जाता है। फिर तो जैसे सन्निधान वश स्फटिक में जपाकुसुम का लौहित्य प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार प्रमाता में रामादि की रत्यादि भी प्रतिबिंबित हो जाती है।

दर्पणकार का यह समाधान विचित्र है। यदि प्रमाता ने काव्यव्यापार की महिमा से भावाश्रयपात्र से ही अपना तादात्म्य कर-लिया तो शेष सामग्री के साधारण्य की आवश्यकता ही समाप्त हो गई। अभिनव का झुकाव 'हृदयसंवाद' और 'तन्मयीभाव' पर है–शेषसामग्री उसकी चेतना से भोगावेश में 'अचेतन' मे चली जाती है–वह केवल भाव या रसमात्र रह जाता है। इस प्रकार दर्पणकार और अभिनव के समाधानों में अन्तर है। अभिनव लोकोत्तरता का परिहार वासना की अपरिमेयता और अद्वैती दृष्टि के आलोक में कर लेते हैं–जो भट्ट नायक भी नही कर पाते, -फलतः अभिव्यक्तिवाद का विरोध करते हैं।

पण्डितराज का भी यही कहना है कि उनके सदृश नव्यचिन्तक जो व्यंजनाव्यापार और अनिर्वचनीयख्याति मानते हैं- वे कह सकते हैं कि काव्य-नाट्य में 'भावना' एक दोष है। दोष न होती तो इन स्थलों में जैसा है वैसा प्रतीत न होकर अन्यथा प्रतीत क्यों होता? फिर जब दोष है ही तब उसके कारण सामाजिक अपने को दुष्यन्त ही क्यों न समझने लगे? दोषवश जो स्वरूप का अज्ञान हुआ-स्वरूप ढँक गया और विक्षेप स्वरूप दुष्यन्त आ जमा-तो उसमें शकुन्तलाविषयक रति का भी शुक्तिका शकल में रजतखण्ड की तरह अनिर्वचनीय उत्पत्ति ही क्यों न मान ली जाय? सभी सामग्री रहे असाधारण।

जो चिन्तक व्यंजनाव्यापार और अनिर्वचनीय ख्याति न मानते हों वे भी भावनानामक दोष वश दुष्यन्त के साथ अपना मानस अभेद मानकर आस्वाद लाभ कर सकते हैं-उसकी उपपत्ति कर सकते हैं।

साधारणीकरण क्यों होता है-वह प्रतीति किस प्रकार की है- इन प्रश्नों के अतिरिक्त अगला प्रश्न यह कि साधारणीकरण होता किस-किस का है। भट्टनायक विभावादि

के साथ स्थायी का भी साधारणीकरण मानते हैं। पर वह स्थायी सामाजिक गत नहीं, काव्य या नाट्यगत है- अभिनव जिस विभावादि के साथ स्थायी का साधारणीकरण मानते हैं वह सामाजिकगत है। उसे सामाजिक से संबद्ध मानने पर भी कोई खास आपत्ति नहीं है, पर सहृदयों का संवाद उसके भी साधारणीकरण के स्वीकार में है। जहाँ तक प्रमाता के पारिमित्य का संबंध है-विगलन तो उसका भी होता है।

'संस्कृत काव्यशास्त्र' से भिन्न वर्तमान भाषाओं में चिन्तन -

(क) हिंदी आचार्यो का साधारणीकरण संबंधी चिन्तन

१) **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और साधारणीकरण :** आचार्य शुक्ल[३०] का रसचिन्तन आंशिक रूप से मनोविज्ञान पर और अंशतः उनके रुचि-परिचालित लोकमंगलवादी दर्शन पर है। इनका साधारणीकरण संबंधी चिन्तन 'रसमीमांसा' तथा 'चिन्तामणि-प्रथमभाग' (साधारणीकरण तथा व्यक्तिवैचित्र्यवाद) में उपलब्ध है। प्रायः वे अपने साहित्य चिन्तन में वस्तुवादी हैं। 'साधारणीकरण' संबंधी चिन्तन में उनकी पाँच मान्यताएँ प्रमुख हैं :

१) "विभावादि सामान्यरूप में प्रतीत होते हैं-इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि ये आलम्बन मेरे हैं या दूसरे के"

२) "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भावका आलम्बन बन सके–तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्णशक्ति नहीं आती। इसीरूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण है।"

३) "कल्पना में मूर्ति तो विशेष की ही होगी–पर वह —ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलंबन हो सके। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्वधर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की होती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का थोड़ा बहुत उदय होता है। साधारणीकरण स्वरूप का होता है वस्तु या व्यक्ति का नहीं।"

४) 'साधारणीकरण प्रभाव का होता है। सत्ता या व्यक्ति का नहीं।"

५) "जबकि आश्रय के साथ अभिन्नता हो गई,तब उसके आलंबन भी अपने आलंबन हो ही जायेंगे।"

इन उद्धरणों से निष्कर्ष यह आया कि साधारणीकरण विभावादि का होता है–फिर विभाव का होता है- फिर आलंबन विभाव का और अंततः उनका सिद्धान्त उन विकल्पों से गुजरते हुए यह है कि साधारणीकरण आलंबन व्यक्तिका नहीं, प्रत्युत उसके आलम्बनत्व धर्म का होता है। आगे चलकर प्रभाव की भी बात कही गई। इसी प्रसंग में दर्पणकार के प्रभावमें आकर तादात्म्य की भी बात कह दी गई।

शुक्लजी का सर्वाधिक बल 'आलम्बनत्व धर्म' के साधारणीकरण पर हैं-धर्मी व्यक्ति तो आसाधारणही रहता है। उनकी दृष्टि से आलम्बन विभाव में 'जो रंग-रूप-व्यापार चित्रित हो - वे ऐसे हों जो सहृदयपाठक मात्र में एक ही भाव पैदा करें।

वस्तुतः उनमें क्रोचे का पक्ष भी है। क्रोचे का पक्ष है कि व्यापारशील आत्मा सैद्धान्तिक व्यापार भी करती है और व्यावहारिक भी। सैद्धान्तिक स्तर पर जो ज्ञानात्मक व्यापार होता है वह दो प्रकार का होता है–इण्टयूटिव और लाजिकल। प्रथम प्रकार का ज्ञान कलात्मक है और दूसरे प्रकार का ज्ञान शास्त्रीयतर्कात्मक। पहले में 'व्यक्ति का बिम्ब स्वतः स्फूर्त होता है-कल्पना के सहारे व्यक्त होता है और दूसरे में वही 'सामान्य' या 'जाति' के रूप में आता है। इस प्रकार कलाका विषय-जिसे सुंदर होना अनिवार्य है-'व्यक्ति' ही होगा-विशिष्ट ही होगा- न कि 'सामान्य'। भारतीय चिन्तन कहता है कि विशिष्ट या व्यक्ति जबतक 'सामान्य' नहीं होगा-सहृदय की वासना को उद्‌बुद्‌ध करने की पात्रता ही नहीं आएगी। इस प्रकार आपाततः एक परस्पर विरुद्ध पक्ष उभरते दृष्टिगोचर होते हैं-इन विरुद्धों के समन्वय का एक ही रास्ता है और वह यह कि आलम्बन 'तो विशिष्ट' या 'व्यक्ति' ही रहे-वह असाधारण ही रहे परन्तु उसमें जो रंग-रुप भरे जाये वे साधारण हो का मतलब यह कि पाठक पर समानप्रभाव पैदा करें-प्रभाव में भिन्नता न हो।

भट्ट नायक द्वारा उठाई गई आपत्ति का कि लोकोत्तर देवादिपात्रों' से हृदयसंवाद कैसे हो-इसका उत्तर देते हुए दर्पणकार का 'तादात्म्य' वाला पक्ष ही स्वीकार किया।

संप्रति, शुक्लजी के पक्ष पर विचार आवश्यक है। शुक्लजी का यह पक्ष भ्रामक है कि आलंबन की कल्पना (मानस साक्षात्कारात्मिका) में मूर्ति तो विशेष यानी व्यक्ति की ही होगी–सामान्यीकरण 'धर्म' का होगा। यह समझना कि क्रोचे ही कलोचित सौंदर्य की निष्पत्ति के लिए कल्पना या प्रातिभपटल पर 'विशिष्ट' की स्थिति मानता है-ठीक नहीं है–भारतीय आचार्य भी भावोद्‌बोधन में 'विशिष्ट' (जो बिंबात्मक होता है–जिसका प्रातिभपटल पर उदय होता है–जातिरूप नहीं है। अन्यत्र स्वयम् शुक्ल जी

कहते है कि काव्य में अर्थग्रहण से काम नही चलता, बिंबग्रहण आवश्यक है। जाति की स्थिति अर्थग्रहण में ही है बिंबग्रहण तो विशिष्टरुप में ही होता है। आचार्यशुक्ल को यह गलत-फहमी है कि भारतीय आचार्यों ने 'बिंबार्थ' पर विचार नहीं किया। इस पर अन्यत्र विस्तार से विचार किया जायगा। आलंबन 'विशिष्ट' होकर भी देश-काल-व्यक्तिगत-संबंध से मुक्त हो कर 'सामान्य' होता है—यह 'सामान्यीकरण' या 'सामान्य' 'जाति' का पर्याय नहीं है। विंबार्थ सामान्यीकृत ही होता है। इसलिए शुक्लजीका यह पक्ष अमान्य है कि आलंबन तो व्यक्ति रूप ही होता है-तभी उसमें भाव-दीप्ति करने की क्षमता आती है।

दूसरी बात 'तादात्म्य' की है—यदि प्रमाता प्रेक्षक ने आश्रय के साथ तादात्म्य कर लिया-तब तो साधारणीकरण का सारा सवाल ही समाप्त हो गया। फिर तो आश्रय का आलंबन अप्रतिहत या निर्बाध रूप से प्रेक्षक का आलंबन हो ही जायगा-फिर साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या है? क्या इस तादात्म्य में लोकोत्तरता का बोध प्रतिबंधक नहीं होगा? पंडित केशवप्रसाद मिश्र ने इसीलिए शुक्लजी के पक्ष को भ्रामक कहा है और अपना भिन्न पक्ष प्रस्तुत किया है।

२) **पं. केशवप्रसाद मिश्र और साधारणीकरण-मधुमतीभूमिका** : पं. मिश्र ने 'मेघदूत' का बड़ा शक्त अनुवाद प्रस्तुत किया है-उसमें एक भूमिका है—उसमें उनकी सुप्रसिद्ध 'मधुमती' की स्थापना है। यह शब्द पातंजलयोगदर्शन[३२] से उधार लिया गया है। चित्त की पाँच भूमियाँ है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरोध। वस्तुतः 'योग' तो प्रकृति-पुरुष-विवेक-ख्यातिपूर्वक द्रष्टाका स्वरूपावस्थान है-पर औपचारिक रूप से पूर्व-पूर्व भूमियों को भी 'योग' कह दिया जाता है। उक्त लक्ष्य तक पहुँचने के लिए योगी को क्षिप्त; मूढ और विक्षिप्त-भूमियों को पारकर किसी विषय (यथाभिमत या ईश्वर) पर चित्र को एकाग्र करना होता है। योग का सही शुभारम्भ इसी एकाग्र भूमि से होता है—यहीं से समाधि की 'संप्रज्ञात' वाली स्थिति आती है। इसके भी विभूतिपाद' में चार रूप कहे गए है। प्रथम प्रथम-काल्पिक, द्वितीय मधुभूमिक, तृतीय प्रज्ञाज्योति और चतुर्थ अतिक्रान्त भावनीय योगी माना जाता है। मधुभूमिक योगी ही मधुमती भूमिका होता है-इसे ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहा जाता है। मधु का अर्थ है ऋतम्भरा प्रज्ञा और ऋतम्भरा प्रज्ञा निर्विचारा समापत्ति होने पर होती है। समापत्ति ग्राह्य (विषय-स्थूल तथा सूक्ष्म) ग्रहण तथा ग्रहीता से चित्त की एकाकारता है। स्थूल विषयक समापत्ति दो प्रकार की है—सवितर्का और निर्वितर्का। इसी प्रकार सूक्ष्मविषयक

समापत्ति भी दो प्रकार की है–सविचारा तथा निर्विचारा। सवितर्का समापत्ति योगी का अपर-प्रत्यक्ष है और निर्वितर्का परप्रत्यक्ष। पहले में विकल्प और वितर्क की स्थिति है और दूसरे में नही है। वितर्क शब्द, अर्थ एवं ज्ञान की संकीर्ण ज्ञप्ति है और अर्थमात्र का निर्भास निर्वितर्क समापत्ति है। यही निर्वितर्क समापत्ति पर-प्रत्यक्ष है। चित्र यों है –

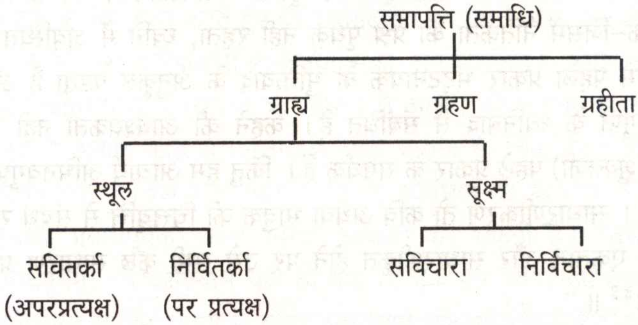

निर्विचारा समापत्ति के उदित होने पर अध्यात्म प्रसाद होता है। इस अवसर पर रज एवं तम रूप मल से रहित प्रकाशस्वभाव बुद्धिसत्त्व का स्वच्छ प्रवाह चलने लगता है। इस अवसर पर सम्पूर्ण अर्थात् एक साथ सबका प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी समय वह योगी प्रज्ञा के उच्चतम शिखर पर बैठकर तापत्रयपरीत संसार को देखता रहता है-स्वयम् अशोच्य हो जाता है। इसी स्थिति का नाम प्रज्ञा है–मधुमती प्रज्ञा या ऋतम्भरा प्रज्ञा। यह मधुभूमिक योगी की प्रज्ञा है। सवितर्क में शब्द, अर्थ और ज्ञान की त्रिपुटी रहती है जबकि सविचारा में देश, काल तथा निमित्त की त्रिपुटी। सविचारा में इस त्रिपुटी का विचार रहता है–निर्विचारा में नहीं।

इतना विस्तार इसलिए दिया जा रहा है कि पं. केशवप्रसाद द्वारा 'मधुमती भूमिका' के संदर्भ में प्रयुक्त शब्दावली का अर्थबोध हो सके। सम्प्रति मिश्र जी के समग्र वक्तव्य से कुछ उद्धरण लें।

इसके पूर्व कि मिश्रजी अपना पक्ष रखें-आचार्य शुक्ल के मत का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है–"साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देखकर सामने लाया जाय। विभाव-अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोकसामान्य होना–दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो

स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्थामें विभाव-अनुभाव आदि सीमित हो जायेंगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी। परिणामतः या अन्तिम ध्येय में सामान्य मानने के दो प्रकार हो सकते हैं–एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी जिसमें काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वंद्वों के भीतर से देखा जाता है और नैतिक पक्ष का आस्वाद लिया जाता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक–जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक् नहीं रहता, ध्वनि में अवस्थित हो जाता है। इसमें पहला प्रकार भट्टनायक के भुक्तिवाद के अनुकूल पडता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से संबंधित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तम विद्वान् (शुक्लजी) पहले प्रकार के समर्थक हैं। किंतु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है[३३] ॥ ''

इस उद्धरण में शुक्लजी की समीक्षा करते हुए आचार्य मिश्रने कहा कि विभावादि स्वरूपतः सामान्य नहीं हो सकते–स्वरूपतः तो उनमें वैयक्तिक तत्त्व रहेंगे, अतः परिणामतः ही सामान्य हो सकते हैं - इसकी व्याख्या बौद्धिक द्वैतपरक नैतिक भूमि पर भी हो सकती है - और कलात्मक भूमि पर भी। दोनों प्रकार की समझ वाले लोग हैं। पहली समझ भट्टनायक की है और दूसरी अभिनव की। मिश्रजी आंशिक साम्यवश भट्टनायक और शुक्लजी को एक पंक्ति में बिठा देते हैं। आंशिक साम्य इसलिए कि कहाँ द्वैतवादी शैवागमिक दृष्टि के भट्टनायक और कहाँ वस्तुवादी चिन्तक आचार्य शुक्ल। शुक्लजी निस्संदेह बुद्धिवादी या मूलतः भेदवादी हैं–प्रसाद जी के शब्दों में कहें तो विवेकवादी। विवेकवादी नैतिकता को अनैतिकता से अलग रखकर रेखांकित करता ही है। विवेक का अर्थ ही है-भेद। भेदवादी वस्तुवादी है, अतः शुक्लजी काव्य के भावपक्ष और विभावपक्ष-में से विभावपक्ष पर ही जोर देते हैं–आलंबन वस्तु पर ही अपने को केन्द्रित रखते हैं और रस की कोटियाँ बनाकर औचित्यसंबलित आलंबन को ही उत्तम कोटि का विभावक मानते हैं–रसोपयोगी मानते हैं। रसकी दो कोटियाँ बनाने में उनकी औचित्यानुधावी नैतिकबुद्धि स्पष्ट सामने आ जाती है–फलतः उन्हें वैसे ही पात्र में सौंदर्य बोध होता है–अनौचित्य-गर्भ पात्र में नहीं। वे कलाकृति की अखण्ड रूप में आस्वाद के पक्षधर नहीं–टुकड़े करके

'औचित्य' बोध के अनुसार खंड में सौंदर्यबोधके पक्षधर हैं। बुद्धिवादी आचार्य की यह नियति है कि वह वस्तु की प्रधानता की ओर जायगा। जो दृष्टि कलाकृति या काव्यास्वादकी अखण्डता का खण्ड कर दे-वह मिश्रजी के मत से भ्रांत है।

अभिनवगुप्त की स्थिति भिन्न है। शुक्लजी भाव से विभाव और विभाव से आलम्बनत्व धर्म की ओर मुड़ जाते हैं–अभिनव गुप्त अपने विवेचनमें विषय से चित्त की ओर और चित्त से चित् की ओर अंतर्मुख होते चले जाते हैं क्रम है- 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं का विश्लेषण करते हुए देशकालालिङ्गित मृगपोत→उससे अनालिंगित मृगपोत→भीत→भीति→भयात्मिकासंवित्→भयात्मिका समष्टिसंवित्। रंगशाला में विराजमान विमलप्रतिभानशाली सहृदयों की वासना से आश्रय की वासना का संवाद संभव है–कारण है अनादि काल से चलतीचली आती वासना से–चित्रविचित्र वासना से–उनका चित्तवासित हैं। देश-काल और जाति के व्यवधान के बावजूद वे जग सकती है। उनका अबोधपूर्वक चेतना स्मरण (प्रत्यक्ष) कर सकती है। 'तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्"–से कालिदास यही तो कह रहे हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त विषय से चलते-चलते समष्टि चेतना से संबद्ध साधारण्य तक पहुँच जाते हैं-विषय से विषयी की ओर मुड़ जाते हैं। इसीलिए, जैसा कि आगे कहा जायगा मिश्रजी ने उनके आशय को स्पष्ट करते हुए कहा –"साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता हैं"– मैं इसे चित्त से भी आगे बढाकर चित् (संवित्) तक ले जाना चाहता हूँ। इस मंतव्य को 'तंत्रालोक' के सागरायमाण रसमय संवित्प्रवाह के आलोक में देखा जाना चाहिए। यह वही अभिनव गुप्त हैं जो 'नाट्यं भावानुकीर्तनम्' के अनुकीर्तन या अनुव्यवहार को अनुव्यवसाय तक ले जाते हैं–अहंतापरामर्श गर्भ अनुभूत की अनुभूति कहने लगते हैं और वही नाट्य है–यह तक कह जाते हैं–"रस एव नाट्यम्, नाट्यमेव रसः" अनुव्यवसाय' को नाट्य कहने वाला 'अवस्थानुकार' की नाट्यात्मकता का निषेध नहीं करता, प्रत्युत उसका हार्द विशद करता है। श्री.जयशंकर प्रसाद भी इसके संदर्भ में नाट्य को इतना महत्त्व देते हैं और विवेकवादियों से आनन्दवादियों को ऊँचा मानते हैं। दूसरे तन्मयीभवन की व्याख्या भी अभिनव के यहाँ विषय की चिदाकार परिणति है–यही भोग्यैकीकार भोग है—–कहा गया है–

तस्या एव स्वतन्त्रायाः भोग्यैकीकार एव सः
स एव भोगः सा मुक्तिस्तदेव परमं पदम्[३४] ॥

निष्कर्ष यह कि अभिनवगुप्त का साधारण्य विषय से आरब्ध होकर विषयी या संवित् तक व्याप्त है–प्रसृत है। व्यक्ति और वासना उसका पारमित्य निर्धारण नहीं करती। असल में अभिनव का दर्शन त्यागी नहीं है–शंकर की तरह; वह सबको (द्वैत) आत्मसात् करके चलता है। इसलिए विषय को छोड़कर विषयी की ओर बढ़ने की बात नहीं है–प्रत्युत विषय को विषयी में आत्मसात् कर अन्ततः विषयी विषय को (स्वाकार इव) एक करके चलने की बात है। यहाँ रसभोग भोग्य और भोक्ता का एकीकार ही है–जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। तभी अखण्ड रसास्वाद का पक्ष उपपन्न होगा।

रसास्वाद में भट्टनायक श्रद्धाबुद्धि के प्रतिबंधक होने का सवाल खड़ा कर नैतिक-अनैतिक का द्वैध खड़ा करते हैं। आचार्य शुक्ल भी राम के चरित्र में 'सौंदर्य देखने-दिखानेकी बात करते हैं न कि रावण के। इस प्रकार जब दोनों को समान स्तर पर रखा जाय-तब उनकी मूलदृष्टि का भेद नैतिक- अनैतिक के संदर्भ को दृष्टिगत करना चाहिए। शुक्लजी रामादि की लोकात्तरता को दृष्टिगत कर हृदयसंवाद का-प्रश्न नहीं उठाते–भट्ट नायक उठाते हैं। भट्टनायक राम-रावण-कथाकलापको एक अखण्ड काव्य के ही रूप में लेते हैं–उनमें भेद नहीं करते भट्टनायक के यहाँ अनुभवसम्मत प्रतिबंधकाभाव का सहारा ले कर समाधान दे दिया जाता है–परन्तु शुक्लजी के यहाँ कोई समाधान नहीं है।

"मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिस में 'वितर्क' की सत्ता नही रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान–इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है-दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी-इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही 'वितर्क' है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है'–इस वाक्य में पुत्र, पुत्र के साथ पिताका जन्य-जनक-भाव-संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता-इन तीनों की पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभवको, 'अपरप्रत्यक्ष' कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का निर्भास होता रहता है-उसे 'परप्रत्यक्ष' या निर्वितर्का समापत्ति कहा जाता है-जैसे-पुत्र का केवल पुत्र रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति का परिणाम है। ××× जिस समय हमको वस्तुओं का पर प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। ×××

अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नही[३४]।" आचार्य मिश्रजी के मत से सहृदय ही उस भूमिपर पहुँच कर आस्वाद नहीं लेता,स्वयम् कवि भी उस भूमि पर पहुँच कर सर्जन करता है। आगे उन्होंने लिखा है–'योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है-उस भूमिका तक प्रातिभ ज्ञान संपन्नसत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है।" इसी प्रकार फिर कहा है–"मधुमती भूमिका में पहुँचा हुआ कवि का मन जब उल्लसित होकर नवीन सृष्टि करता है और अपनी ही सृष्टि की सुन्दरता पर मुग्ध होकर रीझता है–उस समय उसकी समस्त कृतियाँ एकतान एकलय हो जाती है—– मन की इस एक विषयावगाहिनी निरोधावस्था से चित् (ज्ञान) का आवरण भंग हो जाता है–अर्थात् मन जब विक्षिप्त होकर इधर उधर अनेक विषयों पर दौडता है–उस समय अपनी इस विक्षेप क्रिया से वह नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव चित् पर एक प्रकार का पर्दा सा डालता रहता है, पर जहाँ उसकी यह विक्षेपावस्था निरोधावस्था में बदली कि उसका आवरण डालना बंद हो जाता है[३५]" आदि।

मिश्रजीने द्रुति के कारणीभूत माधुर्य में भी निगूढ रूप से मधुमती भूमि का ही संकेत देखा है। कालिदास और भवभूति ने महर्षि वाल्मीकि के क्रौंचवध और राम के सीतावियोग में जिस करुणरस को निर्दिष्ट किया है-वह यों तो अपर प्रत्यक्ष का विषय है–पर उस आवेश में जो प्रातिभ प्रकाश हुआ और वाग्ब्रह्म फूट पड़ा–वह लगता है कि उनके परप्रत्यक्ष का ही विषय है। इन लोगों का शोक-जो स्थायीभाव होकर रसरूप में फूट पड़ा या परिणत हो सका–वह स्व-पर-भाव-अनालिंगित शोक है–परिच्छिन्न शोक नहीं। इसीलिए अभिनव ने कहा है - *न तु मुनेः शोकः* [३६] (लोचन)

कवि और सहृदय का हृदय एक-एक कण के साथ बंधुत्व के बंधन से बंधा है। कवि का तन सृष्टिकाल में महाशक्ति की महारुचि से जुड़ा है–इसीलिए वह घटित की ही नहीं, सम्भाव्य की भी सृष्टि कर सकता है। मानव मन उपादानों की नई से नई योजना कर के नवीन मूर्तियाँ खड़ा कर सकता है–पर उपादान या कच्चामाल परिचित ही होता है।

मिश्रजी के मत में पातञ्जल योग से कुछ पारिभाषिक शब्द लिए गए हैं–जिनके मूल अर्थ में परिवर्तन है। योगशास्त्र की संप्रज्ञात समाधि के विभिन्न सोपानों की यथावत् स्थिति तो सर्जन-ग्रहण हो नहीं सकती–पर समाधि शैथिल्य जब बाधक माना गया है–तब 'सामाधि' अर्थात् काव्यसामग्री पर सत्त्वप्रधान चित्त की एकाग्रता-एकतानता

तो अनिवार्य है। इस समाधि में मूल समाधि से इतना साम्य और है कि 'सवितर्क' का ज्ञान शब्द अर्थ-ज्ञान का सम्मिलित या संकीर्ण ज्ञान है–अपृथक् प्रतीति है–निर्वितर्का में अर्थ मात्र का निर्भास होता है–ठीक इसी प्रकार सहृदय द्वारा ग्रहणवेला में पहले प्राथमिक स्तर पर बोध संबंध (देश-काल-व्यक्ति विशेष का संबंध) गर्भ होता है-परवर्ती स्तर पर संबंधबोध विगलित हो जाता है। इस साम्य के साथ पातञ्जल की प्रक्रिया को लें-तभी संगति बैठ सकती है–बिलकुल तद्वत् समाधि संभव नहीं है। पातञ्जल की मधुमती में प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है–उसके समक्ष समस्त अर्थ निरावृत रूप में प्रत्यक्षगोचर होते हैं–यहाँ समाधिस्थ ग्रहीता की काव्यसामग्री से एकतान चित्तवृत्ति को जो प्रतिभानमय अर्थप्रतिभास होता है वह चराचर जगत् का अर्थमात्र नहीं है–केवल रसोचित अर्थ का प्रतिभानमय साक्षात्कार है। मिश्रजी की 'मधुमती' पातञ्जल की 'मधुमती' जैसी है-किन्ही अंशों में। जब मिश्र जी कहते हैं कि साधारणीकरण कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से संबंध रखता है–अर्थात् चित्त के एकतान और साधारणीकृत (स्व-पर-भाव-विनिर्युक्त-लोक हृदय में विलीन) होने पर उसे सबकुछ साधारण प्रतीत होने लगता है-तब विषय से विषयी को ओर बढते हुए मिश्र जी अभिनव से प्रभावित लगने लगते हैं। ग्रहण काल में ग्राहक का चित्त एक मात्र ध्येयाकार हो जाता है-तब रसोपयोगी सामग्रीमात्र का ही निर्भास होता है–धीरे-धीरे केवल भाव या रसमय प्रतीति ही रह जाती है। काव्य में शेष सब आपरमार्थिक है-- प्रतीति ही परमार्थ है। महिम ने ठीक कहा – *प्रतीतिपरमार्थं हि काव्यम्*[३७]

पं. चन्द्रबली पांडे का कहना है कि 'मधुमती' भूमि विचारानुगत समाधि के अन्तर्गत होने से ऐश्वर्य विषयक है–'विशोका' की भूमि 'आनन्दानुगत' समाधि के अंतर्गत आती है–अतः 'साधारणीकरण' के संदर्भ में 'मधुमती' को नहीं, 'विशोका' को मानना चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य का मत अपने ढंग से प्रस्तुत करते हुए 'यद्वा' [३८] प्रतीक से कुछ इसी तरह की बात की है। उन्होंने कहा है कि विभावादि की चर्वणावश जो सहृदयता सहकृत भावना सक्रिय होती है–उससे भिन्न-भिन्न स्थायी से उपहित स्वस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति वैसी ही हो जाती है जैसी कि समाधि में योगी की। यही चित्तवृत्ति ही रस है। विभावादि के समुदित प्रतीति से व्यंजना का उन्मेष, चित् का आवरणभंग और तदनन्तर स्वरूप का आनन्दमय प्रत्यय-इतनी विलंबित प्रक्रिया क्यों मानी जाय? मिश्रजी भी विभाव से-भाव-चित्तवृत्ति-

एक-तानचित्तवृत्ति-प्रमातृचेतना की ओर बढ़ते हुए जब अपना मत प्रस्तुत करते हैं तब अभिनव से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वे एकतान चित्तवृत्ति को साधारणीकरण कहते हैं–शेष सामग्री के साधारणीकृत प्रतीति में चित्त की यही दशा कारण है। यह ठीक लगता है कि जो कुछ होता है कि एक विशिष्ट सात्त्विक मनोदशा में ही होता है। यह मनोदशा औरों के साधारणीकरण का निमित्त भी हो सकती है और साधारणीकृत विभावादि की प्रतीति से उसमें उद्भूत सान्द्रता की परिणति भी हो सकती है। अंततः आस्वाद या भोग संवित् और भोग्य की एकाकारता ही तो है। अपने ढंग से शुक्लजी भी कह जाते हैं–चेतना की तदाकार परिणति ही सौंदर्यानुभूति है–इस दशामें जो बाहर है वही भीतर है,जो भीतर है वही बाहर है–वस्तुतः भोगकाल में बाहर-भीतर का भेद ही विलुप्त हो जाता है। सर्वतोदिक् उसी की उफान रहती है।

ग) आचार्य पं. नंददुलारे वाजपेयी सम्मत साधारणीकरण -

वाजपेयी जी की साधारणीकरण सम्मत विवेचना को इस प्रकार खतियाया जा सकता है– १) भट्टनायक के साधारणीकरण का सिद्धान्त केवल काव्य के सामर्थ्य का लेखा न लगाकर भावक के सामर्थ्य का भी आख्यान करता है। २) इस प्रसंग में श्रद्धाबुद्धि को प्रतिबंधक बताना एक असाहित्यिक दलील है। ३) साधारणीकरण का अर्थ 'रचयिता और भावक या उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है ४) साधारणीकरण कविकल्पित समस्त व्यापार का होता है–केवल किसी पात्र विशेष का नहीं [३९]।

वाजपेयी जी की इन मान्यताओं में जहाँ भट्टनायक से वैमत्य व्यक्त होता है-वहाँ वे अभिनव की ओर ही मुड़ते, प्रतीत होते हैं। भट्टनायक साधारणीकरणात्मा भावकत्व नामक व्यापार को शब्दगत शक्ति विशेष मानते हैं। अभिनव भावकत्व को व्यञ्जना में समाहित करते हुए उसे न केवल शब्दार्थका सामर्थ्य बताते है–शब्दार्थोभयात्मक काव्य का सामर्थ्य स्वीकार करते हैं अपितु यह भी कि उस (व्यंजनात्मक सामर्थ्य) के उपयोग में भावक या उपभोक्ता की प्रातिम क्षमता को भी सहायक मानते हैं। इस प्रकार वह अकेले शब्द का सामर्थ्य नहीं है भावक के सामर्थ्य (प्रगति) का भी मुखापेक्षी है। दूसरा तर्क और भी महत्त्वपूर्ण है। भट्ट नायक ने कहा था कि अभिव्यक्ति पक्ष में देवतादिविषयक रत्यादि तथा लोकोत्तर राम आदि के समुद्र संतरण और अब्धिलंघन में जो लोकोत्तर भान है, 'उनसे हम सामान्यलौकिक सामाजिकों का हृदयसंवाद तथा

भावजागरण किस प्रकार संभव है? पण्डितजी ने कहा कि यह अपत्ति या दलील कि श्रद्धाबुद्धि ऐसे स्थलों में प्रतिबन्धक होती है– नितान्त असाहित्यिक दलील है। ग्राहक उसी भाव से तादात्म्य करेगा–संवाद अनुभव करेगा जो रचयिता रचना के स्तर पर व्यक्त कर चुका है। रचयिता के मानस पर रचनाकाल में जो भाव उभर चुका है–ग्रहण के स्तर पर भावक के हृदय पर क्यों नही उभरेगा? यदि रचना की ही भूमि पर रचयिता असाहित्यिक है-तो यह रचयिता ही नही विघटक है। सहृदय सम्मत संवाद की भूमि पर ऐसा प्रश्न खडा करना 'महत्साहसम्' है। उनकी तीसरी स्थापना है कि साधारणीकरण है क्या और चौथा कि साधारणीकरण किस-किस का होता है, पण्डितजी का कहना है कि साधारणीकरण रचयिता और उपभोक्ता के बीच तादात्म्य है-– तो इसका आशय यही है कि रचायिता ने अपनी भावना को सहृदय साधारणतक पहुँचा दिया–अपने सर्जनात्मक अनुभव को सर्वानुभव संबद्ध कर दिया–सर्वसाधारण कर दिया। कवि के हृदय से भावक के हृदय तक पहुँचने के बीच में जो सामग्री या कवि की कल्पना से आनीत जो कुछ था–सबका साधारणीकरण होता गया- न कि शुक्लजी की तरह केवल आलंबन या आलंबनत्व धर्म का। रचयिता और उपभोक्ता का तादात्म्य नहीं–"उनके बीच भावना का तादात्म्य साधारणीकरण है। शुक्लजी विषयोन्मुख थे, वाजपेयी जी भावोन्मुख है–अंतर्मुख हैं। इससे निमित्त और फल में अभेदोपचार है–साधारणीकरण का फल है-दोनों के बीच भावना का तादात्म्य। केशवजी भी जब एकतान चित्तवृत्ति का साधारणीकरण करते हैं-तो वहाँ भी यही अभेदोपचार कहा जा सकता है। शुक्लजी कहते हैं कि आलम्बन को इस रूप में लाया जाना कि सबमें समान भाव संचार हो-साधारणीकरण है। अभिधा में साधारणीकरण तो असाधारण का साधारण होना ही है। इस 'साधारण' में वैयक्तिकता का सर्वथा विगलन नही होगा- अन्यथा भिन्न-भिन्न काव्यों के श्रृंगार में अनुभवसिद्ध भेद उपपन्न नहीं होगा। दर्पणकार और शुक्लजी प्रमाता और आश्रय के तादात्म्य को साधारणीकरण कह रहे हैं। इस प्रकार अभिहित और लक्षितरुप में कुल अनेक पक्ष हुए–

क) असाधारण का साधारण होना – व्युत्पत्तिमूलक अर्थ.

ख) काव्यशब्दगत भावकत्व – भट्टनायक

ग) काव्यशब्दगत व्यंजकत्व – अभिनवगुप्त

घ) प्रमाता आश्रय का तादाम्य – विश्वनाथ महापात्र

ङ) समानभाव संचारणक्षम आलंबनका रूप–रचयिता और भावक का तादात्म्य – रामचंद्र शुक्ल

च) चित्तगत एकतानता – पं. केशवप्रसाद मिश्र

छ) रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य – वाजपेयी

ज) भावना नामक दोष ही सब सम्पन्न करा देगा। साधारणीकरण अनावश्यक – पण्डितराज

झ) अगला पक्ष डॉ. नगेन्द्र का है – इन पक्षों में साधारणीकरण क्या है और-साधारणीकरण किस-किस का होता है – दोनों का समावेश है। साथ ही निमित्त और फल का कहीं–कहीं अभेदोपचारभी है। उक्त विभिन्न पक्षों का मंथन करने से कई विकल्प सामने आते है। एक पक्ष तो काव्यार्थकी लोकोत्तर या अलौकिक प्रतीति को भावना नामक दोषवश सम्पन्न मानता हैं - इसलिए वहाँ साधारणीकरण का सवाल ही नही उठता। 'भावना' की सत्ता तो किसी न किसी प्रकार सभी मानते हैं-पर उसे दोष न कहकर काव्य-नाट्यादि का एक मधुमय व्यापार मानते हैं। जो मधुमय व्यापार मानते हैं - वे भी दो प्रकार के हैं – एक तो वे जो उसे 'मीमांसा' सम्मत भावना के अनुरूप त्र्यंश मानते हैं और दूसरे वे जो 'पुनः पुनः अनुसंधानात्मा' बताते हैं। साधारणीकरण दोनों के यहाँ हैं। ग्रहीता को भावक सभी कहते हैं–अतः भावना की सत्ता किसी न किसी रूप में सभी मानते हैं। ये लोग भी दो प्रकार के हैं–एक वस्तु परकचिन्तक और दूसरे भावपरक। वस्तु या विषय पर टिकने वालों में भी एक (शुक्लजी) आलंबन या आलंबनत्व धर्म पर टिक जाता है और दूसरा आश्रय पर टिककर उससे ही तादात्म्य की बात करता है। शुक्लजी विश्वनाथ महापात्र से प्रभावित होकर इधर भी झुकते हैं। साधारणीकरण पर विचार करने वाला एक वर्ग ऐसा है जो विभावादि के साथ स्थायी और प्रमाता का भी साधारणीकरण कहता है। उन सबके बीच अभिनवगुप्त और केशव प्रसाद जी में केशवजी संबंधमुक्त 'पुत्र' या आश्रय की बात करते - करते चित्त की एकतानता पर बल देने लगते हैं जब कि अभिनव भी सबका साधारणीकरण मानते हुए 'प्रतीति' (भीति), (रस) में पर्यवसित होने लगते हैं। यह तो अभिनव की पहचान है कि वे बाहर से भीतर की ओर मुड़ जाते हैं – और भावमयी संवित् पर विश्रान्त होते हैं। नाट्य को त्रैलोक्य का अनुकरण कहते-कहते उसे 'रस' का पर्याय कह देना इसी संविन्मुखी प्रवृत्ति की परिणति है।

डॉ. नगेन्द्र उक्त सभी मतों का मंथन करते हैं और पहले 'आश्रय' के साथ तादात्म्य को नए रचना संसार के संदर्भ में अग्राह्य मानते हैं। नई रचना में नायक के यथार्थ चित्रण के आग्रह पर ऐसा भी हो सकता है कि सहृदय उससे 'तादात्म्य' पसन्द न करे। 'आधे-अधूरे' का कौनसा पात्र है- जिससे हमारा तादात्म्य अभीष्ट हो? अतः यह पक्ष ठीक नहीं। दूसरा है–आलंबन या आलम्बन का सहृदय मात्र में समान भाव पैदा करने वाला गुण-धर्म। पर इसे भी नैतिक-अनैतिक की कोटियों मे बाँटकर काव्य प्रभाव को अव्यापक बनाना-अतः यह पक्ष भी सहृदय सम्मत नहीं।

विषय (आश्रय और आलंबन) से हटकर जब हम विषयी की ओर आते हैं - तब - केशव प्रसादजी मिलते हैं– जो चित्त की एकतानता को साधारणीकरण कहते हैं–सामाधि की मधुमती भूमि चित्त की एकाग्र सात्त्विक भूमि है– ध्येयाकार चेतना है- पर यह परिणति है - कारण नहीं है। साधारणीकरण इस परिणति का कारण है। केशवजी 'निर्वितर्का' समापत्ति की भाँति आलंबन (पुत्र) की संबंध-मुक्त-स्थिति को साधारणीकरण कह चुके हैं– इसे भी दृष्टिगत रखना चाहिए। अभिनव भी तो विभावादि की संबंध-मुक्ति को साधारणीकरण की प्रक्रिया कहते हुए रसावेश में मात्र 'भीति' से एकाकार चेतना पर टिक जाते है। अतः इन लोगों के पक्ष को दूषित करते समय डॉ. नगेन्द्र इन बिंदुओं को नजर अन्दाज कर जाते हैं। इस प्रकार डॉ. नगेन्द्र 'विषय' या 'विषयी' में से किसी एक अंगकी ओर झुकने वालों का दोषोद्‌घाटन करते हुए उस पक्ष पर आजाते है– जहाँ सर्वांग (भट्‌टनायक और अभिनवगुप्त) का साधारणीकरण होता है। डॉ. नगेन्द्र का यह कहना है कि सर्वांग का साधारणीकरण जड़ प्रक्रिया है। मूल है कवि की सर्जनात्मक अनुभूति और काव्य में कल्पना या प्रतिभा द्वारा उसका संश्लिष्टबिंबात्मक अभिव्यंजन- अतः यदि मूल सर्जनात्मक अनुभूति का साधारणीकरण मान लिया जाय - तो उसकी परिणति का साधारणीकरण स्वयम् हो जायेगा। सर्वांग का साधारणीकरण-संबंधनिर्मुक्ति- को डॉ.नगेन्द्र जड़ प्रक्रिया मानते है- यह जड प्रक्रिया क्या है–स्पष्ट नहीं किया। सर्वांगमें स्थायी भाव और प्रमाता भी आता है - अतः सर्वांग में जडता कहाँ है? फिर प्रक्रिया (साधारणीकरण) क्या चेतना से असंस्पृष्ट रह कर होती है? चेतना में होती है तो जडीभाव कैसा? दूसरी बात यह कि कवि की अनुभूति का साधारणीकरण? साधारण का साधारणीकरण? कवि की अनुभूति - सर्जनात्मक अनुभूति तो साधारण होती ही है। सारी चिन्तन परम्परा यही मानती है। अतः यह पक्ष सर्वथा परम्परा से असंगत और अस्वीकार्य है।

डॉ. नगेन्द्र की यह स्थापना 'तुष्यतु दुर्जन न्याय' से मान भी ली जाय- तो डॉ. गुलाबराय की ओर से खडा किया गया यह सवाल जायज है कि यदि काव्य की सारी संश्लिष्ट बिंबात्मक सामग्री कवि की सर्जनात्मक अनुभूति का ही प्रकाशन है–तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसकी वस्तुगत सत्ता ही नही है– फिर अभिनवादि का यह वक्तव्य नाट्य की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिए – इतिहास - पुराण से ली जानी चाहिए - निरर्थक हो जायगा। प्रख्यात कथावस्तु इसलिए ली जाती है कि सहृदय समाज के मन में उस कथावस्तु के अनुरूप संस्कार पहले से विद्यमान रहता है – फलतः काव्य और नाट्य की संवादी सामग्री से उद्रिक्त हो जाता है। इसलिए विधान भी है कि प्रख्यात कथावस्तु में कल्पना का ऐसा उपयोग न किया जाय कि सामाजिक के संस्कार को अनुचित ठेस लगे- मतलब प्रख्यात कथावस्तु में कवि मनमानी छूट नहीं ले सकता। यह सब बातें काव्य सामग्री की वस्तुगतता के पक्षमें और डॉ. नगेन्द्र के विपक्ष में जाती है। डॉ. नगेन्द्र का समाधान कि सामाजिक के संस्कार के मूल में कवि की अनुभूति ही है– सर्वथा अस्वीकार्य है। इतिहास और पुराण के अध्ययन या परम्परा से श्रवण सामाजिक में संस्कार नही डाल सकते? दूसरे जब वे स्वयम् कहते हैं – मैंने तो कहीं भी कवि की अनुभूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' नहीं कहा– फिर तो अविशिष्ट और निर्वैयक्तिक यानी साधारणीकृत ही रही- तब साधारणीकृत का साधारणीकरण कैसा? स्वयं डॉक्टर नगेन्द्र कहते हैं कि कवि अपनी अनुभूति का साधारणीकरण किस प्रकार करता है– उत्तर में कहा कि यह तो 'भाषा' या मानवसुलभ सहानुभूति है। विचित्र उत्तर है – भाषा तो बाद में आएगी – अनुभूति की अभिव्यक्ति में – वह कविगत सर्जनात्मक अनुभूति के साधारणीकरण में कैसे उपयोगी होगी? डॉ. नगेन्द्र का यह मानना भी विचित्र है कि 'मानस' की सीता 'कवि की अनुभूति' की बिंबात्मक सृष्टि है– राम से उसका इतिहास वाला दात्म्पत्य संबंध है ही नही – अतः श्रद्धाबुद्धि के प्रतिबंधक होने का सवाल ही नहीं उठता। मतलब 'मानस' की सीता का लोकगत कोई अस्तित्व ही नहीं है। कुल मिलाकर डॉ. नगेन्द्र का मत सर्वथा अग्राह्य है।

मराठी लेखक और साधारणीकरणः

श्री नरसिंह चिंतामणि केलकर का पक्ष है कि सहृदय आश्रय से तादात्म्य बोध द्वारा नहीं, आत्मौपम्यबोध द्वारा आनन्दलाभ करता है – यानी सहृदय अपनी भूमिका

में रहते हुए प्रतिभावन से जब आश्रय की भूमिका में संक्रमण करता है – तब उसे आनंद लाभ होता है। आनन्दलाभ केवल अपनी भूमिका में या केवल परभूमिका में संक्रमण करने से नही होता. ऊपर औपम्य की बात कही गई है। अन्यत्र यह कहा गया है कि कलाजन्य आनन्द में सविकल्प तादात्म्य का ही महत्त्व है। एक तीसरी जगह कहा गया है कि परभूमिका संक्रमण के द्वारा पाठक थोड़े बहुत रूप में संसार के आकलन करने की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करता है – फलतः उसे आनन्द होता है।

जो चिन्तक तादात्म्य बोध को रसास्वाद में कारण बताते हैं– केलकर साहब के साथ उनके विपक्ष में मै भी हूँ। मेरा कहना यह है कि यदि 'तादात्म्य' के पक्षधर साधारणीकरण के पक्षधर हैं या विपक्षधर विश्वनाथ महापात्र तथा रामचंद्र शुक्ल आदि। ये लोग 'साधारणीकरण' की भी बात करते है 'और', 'तादात्म्य' की भी। 'तादात्म्य' की बात वे लोग इसलिए करते हैं कि 'साधारणीकरण' की गुंजाइश रामादि लोकोत्तर अनुकार्यों की भावनाओं से सहृदय का 'हृदयसंवाद' कैसे हो? पूज्यत्वबुद्धि के कारण साधारणीकरण हो नहीं सकता और 'उन भावनाओं से हृदयसंवाद तथा तन्मयीभाव होता है– "इस सर्ववादि सम्मत संवाद की उपपत्ति कैसे हो? दर्पणकार 'साधारणीकरण' से काम चलते न देखकर ऐसे प्रसंगों के संदर्भ में 'तादात्म्य' (प्रमाता और आश्रय) की कल्पना करते हैं। इस प्रकार दर्पणकार कहीं साधारणीकरण से और कहीं 'तादात्म्य' से काम चलाकर एक ही रसानुभूति (काव्यनुभूति) में दो कारण बताते है। यदि सर्वत्र 'तादात्म्य' को कारण मान लें – तो एक ही से काम चल जायगा। इस प्रकार इस पक्ष में कारण-कल्पना–गौरव नामक दोष है। दूसरे यह कि आश्रय के साथ प्रमाता का तादात्म्य बोध आपत्ति जनक नहीं है क्या? आपत्ति यह है कि आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव होते ही प्रमाता लौकिक कोटि का सुखद दुःखद अनुभव करने लगेगा। तीसरे यह भी कि नव्यतम रचनाओं के नायकों से तादात्म्य नहीं, ताटस्थ्य ही भावात्मक प्रतिक्रिया पैदा करता है। आचार्य शुक्ल ने जो रसानुभूति की मध्यम कोटि निरूपित की है–वहाँ वे 'आश्रय-प्रमाता-तादात्म्य' न मानकर 'कवि' से तादात्म्य मानते है। इस प्रकार शुक्लजी दो प्रकार के 'तादात्म्य' की चर्चा करते हैं। आपत्तिजनक तादात्म्य' आश्रय-प्रमाता-तादात्म्य' ही है। पण्डितराज इस आपत्ति से अवगत है– इसीलिए वे सारी आस्वादनिष्पत्ति की प्रक्रिया में 'भावन' नामक काव्यदोष को कारण निरूपित करते हैं। इस 'भावना' नामक काव्यदोष के

कारण प्रतीतियाँ अन्यथा होने लगती है– जिसकी परिणति इसलिए लौकिक स्तर की सुखः दुःखात्मक नहीं हो सकती कि उसके मूल में स्थिति 'भावना' नामक दोष एक काव्यव्यापार है। और यह प्रतीति सहृदय के अनुभव के साक्ष्य पर यदि सुखदुःख उभयात्मक हो भी तो भी लौकिक प्रकृति का न होगा–। पण्डितराज का यह उत्तर भी 'तादात्म्य' के मूलकारण का विरोधकर 'भावना' को मूलकारण बताता है।

कुछ लोगों का विचार यह है कि 'साधारणीकरण' के फलस्वरूप जब आश्रय और प्रमाता का भावानुभूति के स्तर पर एकात्मकता हो जाती है – तन्मयीभाव हो जाता है तब बाई–प्रॉडक्ट के तौर पर 'तादात्म्य' नही माना जा सकता? उनके भेद के बावजूद क्या यह 'संवाद' और 'तन्मयीभाव' संभव है?

इनसे मेरा प्रश्न यह है कि ये 'तादात्म्य' वाले बताएँ कि यह 'तादात्म्य' साधारणीकरण से पहले घटित होता है – या बाद में? या साधारणीकरण और तादात्म्य – एक ही है, एकही समय घटित होता है। एक ही समय घटित होकर क्या ये दो कहे जाएँगे? यदि अभेदबुद्धि साधारणीकरण से पहले ही घटित हो जाती है अर्थात् यदि सामाजिक रामादि आश्रय के निर्विशेष (साधारणीकृत) होने से पहले ही अपने को उनसे अभिन्न मानलेता है– तो ऐसा किसी दोष (पंण्डितराज व्दारा स्वीकृत) से ही संभव है। अपने से भिन्न अनुभव करता हुआ भी अभिन्न मान लेना किसी दोष की ही परिणति है। और यदि प्रमाता राम से अपने को अभिन्न मान लेता है तो सीता को प्रेयसी रूप में ग्रहण यों नही कर सकता? यह कोई अनर्थ होगा? फिर उनके साधारणीकरण की आवश्यकता? इसलिए 'साधारणीकरण' के पूर्व 'तादात्म्य' का प्रसंग संभव नहीं। तब क्या 'साधारणीकरण' के बाद 'तादात्म्य' की स्थिति मानी जाय? यह अस्वीकरणीय और निष्प्रयोजन है। अभेद या तादात्म्य के लिए दो का भेद-ज्ञान आवश्यक है और भेद-ज्ञान व्यक्ति-काल-देश से विशेष संबंध पर आश्रित है जो साधारणीकरण से विगलित हो चुका है – अतः भेद–ज्ञान-पूर्वक 'अभेद ज्ञान' साधारणीकरण के पूर्व किस प्रकार संभव है? तब क्या तादात्म्य ही साधारणीकरण है – सर्वथा नहीं। ऐसा मानने से साधारणीकरण का पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। इसलिए उन तीनों स्थितियों में 'तादात्म्य' की परिकल्पना असंगत है। वास्तव में साधारणीकरण के फलस्वरूप निर्विशेषता की स्थिति में सभी एकरूप या समान हो जाते हैं– विभावादि भी निर्विशेष और स्थायी भी निर्विशेष - साथ ही प्रमाता का पारमिप भी विगलित हो जाता है। ऐसी ही स्थिति में आश्रय और प्रमाता के बीच तादात्म्य की संभावना बनती

है–पर इसे सर्वथा 'अभेद' नहीं कहा जा सकता कहीं न कहीं भेदतत्त्व सक्रिय रहता है– अन्यथा सर्वथा तादात्म्य होने पर विभिन्न संदर्भो के श्रृंगारादि एक ही रस की अनुभवसिद्ध भिन्नता नहीं बन सकते। दूसरे व्यक्तिगत संबंध का सर्वथा विच्छेद होने ग्राहक की चेतना पर प्रभाव ही क्यों पड़ेगा? यह संबंध नियमरहित 'हमारी है' इस प्रकार का ही होगा। संस्कृत का आचार्य 'साधारणीकरण' में नियत संबंध के स्वीकार-परिहार की बात करता है– अनियत संबंध का न विधान करता है और न ही निषेध। 'तादात्म्य' के पक्षधरों के विपक्ष में यही सब कहा-सुना जा सकता है।

परम्परा रसास्वाद को न तो निर्विकल्पक ज्ञानात्मक मानती है और न ही सविकल्पक। उनके अनुसार संवेदन या ज्ञान दो प्रकार का होता है– सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक ज्ञान वह कहा जाता है जिसमें नाम-रूप-जाति आदि विशेषों का ज्ञान रहता है–निर्विकल्पक इसका उल्टा होता है– उसमें नाम रूप जाति आदि का ज्ञान नहीं रहता। रसास्वाद में विभावादि का ज्ञान रहता है। अतः वह निर्विकल्पक नहीं है और यह रसास्वाद रस मात्र को ही प्रतीतिगोचर करता है – वहाँ नाम-रूप आदि का उल्लेख सर्वथा असंभव है– अतः सविकल्पक नहीं। यह ज्ञान लौकिक भी नहीं, अलौकिक भी नहीं। लौकिक ज्ञान, प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण से उदासीन युञ्जानयोगी का ध्यानगम्य ज्ञान, स्वरूपमात्र का अवगाही वेद्यान्तरसंपर्क शून्य युक्तयोगी का ज्ञान इन त्रिविध ज्ञानों से भिन्न सहृदय की रसप्रतीति है। ऐसे में 'रसप्रतीति' को 'सविकल्प समाधि' सिद्धान्त जोड़ना कहाँ तक उचित है?

यह कहना कि रसास्वाद की प्रक्रिया में ग्राहक प्रमाता अपनी भूमिका न छोड़ते हुए प्रातिभ बल से परकीय भूमिका में संक्रमण कर जाता है और उस व्यक्ति के अनुभव का लाभ उठाने लगता है, मतलब आनन्द तादात्म्यबुद्धि से नही, वरन् आत्मौपम्य बुद्धि से होता है–विचारणीय है। उनके अनुसार इस प्रक्रिया में कहीं न कहीं महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति भी काम करती है। वे मानते है कि कलाजन्य आनन्द में 'सविकल्पक तादात्म्य' का महत्त्व है।

कलाजन्य आनंदात्मक प्रतीति तक जिस प्रक्रिया से रसयिता पहुँचता है– परम्परा उसे साधारणीकरण प्रक्रिया कहती है और उसका स्वरूप भी स्पष्ट करती है। नव्यचिंतक इस प्रक्रिया में कुछ और जोड़ना घटाना चाहते हैं। जब ऊपर 'तादात्म्यबोध' को दूषित कर दिया गया और रसयिता तथा आश्रय के बीच कहीं न कहीं

वैयक्तिक तत्त्व का संभेद अवश्य स्वीकार कर लिया गया –तब दोनों के बीच औपम्य ही संभव है। परम्परा में भी प्रसिद्धि है– *नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।*

कवि आश्रय तथा प्रमाता के अनुभव में साम्य होता है। हृदयसंवाद और तन्मयीभवन के लिए दोनों में कही न कहीं समान संस्कार और रुचि का होना आवश्यक है– अतः औपम्य (समानता) तो बनता है–और आनंद तक पहुँचने में यह भी कहीं न कहीं कारण बन सकता है– पर एक ही काल में एक ही चेतना में दो प्रकार के ज्ञानों (स्वकीय एवं परकीय भूमिका) का युगपद् अवस्थान किस प्रकार संभव है? इसे और स्पष्ट करना चाहिए। यह हो सकता है कि उभयविधज्ञान भिन्न-भिन्न काल में आते हों–पर शतपत्रभेदन न्याय से क्रम लक्षित न होता हो। वैसे अभिनव ने भी लिखा है कि इस प्रक्रिया में आत्मोल्लेख रहता भी है और नहीं भी रहता है।

जहाँ तक आनन्दानुभूति में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एडलर सम्मत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का संबंध है–वह परकीय भूमिका में संक्रमण से संभव है। पर युंग ने इस सिद्धान्त को निरस्त कर दिया है।

प्रो. केलकर का 'सविकल्प तादात्म्य' क्या है। सविकल्पतादात्म्य' के पर्याय रूप में 'सविकल्प समाधि' शब्द का भी प्रयोग किया है। यह शब्द पातंजल योग दर्शन का है। ऊपर बताया जा चुका है कि सविकल्प में नामजात्यादि का संसर्ग रहता है–विभावादिसंसर्ग के रूप में। पर एकाग्रता के कारण सत्त्व के उद्रेक से आनन्द और प्रकाश की स्थिति संभव है। सविकल्प समाधि के पर्याय रूप में 'सविकल्पतादात्म्य' जैसा सर्वथा नया शब्द क्यों गढा गया? समाधि तो एकाग्रता है– वहाँ ध्येयाकार वृत्ति होती है–यदि तादात्म्य से यही अभिप्रेत है तो ठीक ही है– पर 'तादात्म्य' की प्रक्रिया में अंगता का निराकरण हो चुका है। सविकल्प समाधि सालंबन (ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीता) होती है।

श्री. वामन मल्हार जोशी केलकर जी से असहमत होकर 'आत्मरति या आत्मक्रीडा' को रसास्वाद तक पहुँचने का साधन मानते हैं। जोशीजी सर्जना और ग्रहण–दोनों धरातलों पर आन्तरालिक प्रक्रिया का विचार करते हैं जबकि प्रो. केलकर केवल ग्रहण के धरातल पर ही विचार करते हैं। सर्जनप्रक्रिया का विचार करते हुए उन्होंने वर्ड्सवर्थ की काव्यविषयक अवधारणा का उल्लेख किया है। उसने माना है कि कविता निविड अनुभूति का स्वतः स्फूर्त समुच्छलन है–पर यह भोगकाल नहीं है–सर्जना

में उपयोगी मनोदशा विशेष का क्षण है। यह सही है कि रचनाकार की चेतना वर्ण्यविषय से एकाकार तादात्म्यापन्न या समाहित रहती है– ग्रहणकाल में भी यही स्थिति रहती है। इस तादात्म्य में रचयिता या रसयिता अपने को सर्वथा 'खोना' नहीं बल्कि 'पाना' चाहता है। इसलिए यह तादात्म्य अंशतः ही होता है। अपने को पाने से ही वह आनन्दमग्न होता है।

रसास्वाद के लिए चाहे जैसे (चेतन-अचेतन वर्णन या अचेतन में चेतन व्यापार का आरोपण) हो–भावोद्रेक अनिवार्य है– अतः मात्र आलंकारिक वैचित्र्य इसकी परिधि से बाहर है– शास्त्रानुशीलन जनित आनन्द भी भिन्न है। सौंदर्य बोध और आनंदानुभूति का अविच्छेद्य संबंध है। जोशीजी ने काव्यानंद में अनेक कारणों की परिगणना की है- इसलिए केवल सविकल्पतादात्म्य को कारण नहीं कहा जा सकता। फलतः साधारणीकरण में जो सबका समावेश किया गया है–वह पर्याप्त रूप से ग्राह्य है।

श्री. दत्तात्रेय केशव केलकर 'तादात्म्य' से 'सविकल्प' को हटाकर 'स्वायत्त' विशेषण देते हैं और कहते हैं कि काव्येतर-क्षेत्र में भी कल्पनाजनित तादात्म्य होता है- पर वह 'नियति' नियंत्रित है–काव्य में कवि की स्वायत्त कल्पना से 'स्वायत्ततादात्म्य' संभव है। पाठक की यह स्वायत्ता है कि वह काव्य-नाट्य के किस पात्र से तादात्म्य करे और किससे न करे।

प्रो. जोग का कहना है रसास्वादकाल में रसयिता की तादात्म्य में विवशता होती है-स्वायत्तता नहीं। कवि के काव्यगत 'भाव' के अधीन रसयिता की चेतना हो जाती है– और अगर ऐसा नही होता तो कवि की कमजोरी कही जायगी। क्या हम करुण में जानबूझकर आँसू बहाते हैं।

इन सभी में किसी न किसी रूप में 'तादात्म्य' का पक्ष स्वीकृत है– जिसमें अरुचि के बीज विद्यमान हैं– फलतः कुछ लोग 'ताटस्थ्य' का भी पक्ष रखते है। कोई 'सहानुभूतिपूर्वकताटस्थ्य' की बात करता है (श्री. जोग) तो कोई 'जिज्ञासुताटस्थ्य' (माधवराव पटवर्धन) काका कालेलकर तो 'अनासक्ततन्मयता' का पक्ष रखते हैं। प्रथम (डॉ.वाटवे) पक्षकार रसयिता का पात्र से तादात्म्य न मानकर सहानुभूति की बात करता है– पर सभी रसों के संदर्भ में यह संभव नहीं है–बीभत्स में तो कतई नहीं। फिर सहानुभूति से सर्वत्र काव्यास्वाद की आनंदमयता सिद्ध नहीं होगी। इस पक्ष में एक बात अवश्य है कि रसयिता अपने व्यक्तित्व का विलयन न करके हर पात्र के साथ काव्योचित संबंध स्वेच्छा से जोड़ सकता है और वांछित परिणति तक जा

सकता है। द्वितीय पक्षकार (श्री माधवराव पटवर्धन) का आशय यह है कि ग्राहक को 'नवता' आकृष्ट करती है– कारण, वहाँ कुतूहलवृत्ति बलात् प्रवृत्त करती है–अतः उसकी तृप्तिसे आनन्द आता है। यह पक्ष स्पष्ट ही अस्वीकार्य है। 'कुतूहलवृत्ति' भिन्न है और रिरिंसा (रमणेच्छा) भिन्न है। पहली स्थूल है- वह मात्र नई-नई घटनाओं से संबद्ध होती है। रिरिंसा या रमणेच्छावृत्ति 'भावसिक्त' स्थलों में अनुभूतचर होने पर भी नवीनता प्रतीत होती है और प्रवृत्ति होती है। तृतीय पक्षधर कहता है कि अन्तर में घटित होते हुए भाव को साक्षी बनकर देखना आनन्द का कारण हो सकता है– नट या सर्जक में यह होता भी है–वे तन्मय भी होते हैं–पर अपने को 'संपृक्त' नही होने देते। कारण, उन्हें संप्रेषण या अभिनय प्रस्तुत करना है। रसयिता को तो मग्न होना ही है। मन में उदित भावधारा के प्रति पाठक साक्षी होकर आनन्द ले– यह भूमि है तो सही-पर बड़ी उच्च कोटि की ज्ञानियों की भूमि है। दूसरे यह भी कि साक्षी के लिए भावका प्रभावग्रहण संभव नहीं होगा।

कालिदास की मान्यता का यह कहकर खंडन करना कि 'रम्य-दर्शन' तथा 'मधुर-श्रवण' से चित्त जन्म जन्मान्तर की वासना का चेतना से साक्षात्कार नियमतः करता ही है– गलत है। उनका कहना है कि यदि ऐसा होता है तो वह अकारण नहीं है। ऐसा संभव है। अथवा इसका तात्पर्य यह भी है कि देश-काल की सीमा में आनन्द चाहे जितना छलछला उठे-पर उससे आत्यंतिक तृप्ति नहीं हो सकती– अतृप्ति या बेचैनी बनी ही रहती है– कभी-कभी तो ये दृश्य उद्‌दीपक भी हो जाते है– यदि अबोधपूर्वक कोई क्लेशकर संस्कार जग गया हो।

काव्यास्वाद में चिन्तकों ने और-और कारणों पर भी प्रकाश डाला है परन्तु वे साधारणीकरण की प्रक्रिया यानी काव्यसामग्री से आस्वाद तक पहुँचने की आन्तरालिक प्रक्रिया से संबद्ध नहीं है। अतः अप्रासंगिक होने से उन्हें (पुनः पुनः प्रत्यय तथा प्रत्यभिज्ञा) छोडा जा रहा है।

पाश्चात्यचिन्तक और मध्यवर्ती प्रक्रिया

भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधि केन्द्र है–अपने को जानना- स्वरूपबोध। कारण, यही वह 'अविभक्त' तत्त्व है जो 'विभक्त' की तह में विद्यमान है। 'सर्जना' का भी मुख्यतः केन्द्र बिंदु वही है। सर्जना 'भाव' की भूमिका में वहीं से प्रस्थान करती है और वहीं पहुँचाती है। पश्चिमी चिन्तन 'द्वैत' वादी है। यूनानी अकादमी 'मनुष्य'

और 'प्रकृति' को भिन्न-भिन्न मानती है। प्रकृति की अधिष्ठायी शक्तियाँ देवता हैं - वहाँ 'देवता' और 'मनुष्य' परस्पर प्रतिस्पर्धी हैं–भाग्य देवता उन्हीं में से एक है–जो निरंकुश है। मनुष्य 'बुद्धि' परिचालित जानवर ही है– Rational animal है Social animal है। समाज में आने पर वह व्यक्तिगत हैवानी प्रवृत्तियों का शोधन करता है बुद्धिपूर्वक जीता हुआ मानव देवताओं से संघर्ष करता है। और बड़े से बड़ा सामाजिक मानव 'हमर्शिया' से ग्रस्त होने के कारण भाग्य देवी का शिकार बन ही जाता है। फलतः एक तरफ उनमें 'भय' और दूसरी तरफ 'करुणा' या 'शोक' उसकी चेतना पर प्रभावी रहते हैं उनके जीवन का प्रतिरूप 'ट्रेजडी' भीतर जमी हुई 'भय' और 'करुणा' की भावना को उभारकर 'विरेचन' करा देती है– फलतः काव्य से उन्हें 'राहत' का अभावात्मक आनंद मिलता है। भारतीय चिन्तन से पाश्चात्य चिन्तन का दृष्टिभेद होने के कारण वहाँ 'रस' केन्द्रित चिन्तन नहीं मिलता–फिर भी 'कला' के साथ 'सौंदर्य' और 'आनन्द' का अविच्छेद्य संबंध होने के कारण दोनों का विचार दोनों देशों में आ ही जाता है। वहाँ 'रस' केन्द्रित तो नहीं,पर 'सौंदर्य' केन्द्रित चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित रूप में-वामगार्टन (अठारहवीं शती) से मिलना आरम्भ होता है। भारत में श्रव्यकाव्य के संदर्भ में प्राग्ध्वनि काव्य के केन्द्र में 'चारुता' या 'सौंदर्य' ही था–यह तो आनन्दवर्धन था जिसने उभयत्र (श्रव्य तथा दृश्य) 'रस' को ही केन्द्र में रखने की पक्षधरता की। यह सही है कि 'सौंदर्य' को हम आनन्द से काटकर नही समझ सकते-पर बलाबल की बात है कि कौन किस पर जोर दे रहा है। बाबजूद इसके ट्रेजडी चाहे ग्रीक हो, शेक्सपीरियन (एलिजावेथन) या यथार्थ के दौर की हो- भय एवं करुणा जैसे 'भाव' ही केन्द्र में थे। पर उसके विवेचन के पीछे वह भारतीय दृष्टि कैसे हो सकती थी?

रससिद्धान्त काव्य के अनुपम आनन्द की व्यवस्थामूलक व्याख्या है। रस की इस व्यवस्था मूलक व्याख्या[४६] की समानता कई अनेक पाश्चात्यमतों से देखी जा सकती है। अरस्तू मानता है कि ट्रेजडी में अपने छहों तत्त्वों-वस्तु, चरित्र, विचार, शैली, संगीत और दृश्यविधान तथा उनके एकीकरण से ही काव्यका विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न होता है। यह बात ट्रेजेडी के ही लिए नहीं, समस्त काव्य और कला के लिए सत्य है। दुःखान्त नाटक में भावातिरेक का शमन किसी भी एकतत्त्व द्वारा नहीं होता, अपितु सहयोग और एकत्र कार्य तथा प्रभाव से होता है। इस प्रकार अरस्तू भावशमन और मानसिक शांति की बात कहता है। पर काव्य-नाट्य कला की सामग्री और प्रमाता

चेतना की मूल प्रकृति में कलात्मक परिवेश या काव्योचित व्यापार कोई परिवर्तन लाता है या नहीं—इस पर विचार नहीं मिलता। लांजाइनस भी मानता है कि काव्य का उद्देश्य तीव्र आह्लाद अपने स्वरूप और प्रभाव की दृष्टि से रस के निकट है। यह निकटता तब और बढ़ जाती है जब रसका वितान नाट्येतर क्षेत्रतक फैला दिया जाता है। रसवादी जैसे 'विघ्नों' का विचार करते है, लांजाइनस भी औदात्त्यजनित आह्लाद में बाधकों की चर्चा करता है। रसवादियों की तरह इसने भी प्रभाव ग्रहीता के आत्मपरिष्कार की बात कही है। रस का सौंदर्य से अनिवार्य संबंध है—पर पाश्चात्य चिंतको ने 'सुन्दर' ओर 'उदात्त' में भेद किया है। सौंदर्य में रूपसौष्ठव होता है जिससे द्रष्टा के मन में आकर्षण पैदा होता है और वह आनन्द पाता है। वर्क मानता हैकि सौंदर्य और रागात्मक (प्रेम) भाव में वही संबंध है जो आग और उष्णता में। सौंदर्य की सृष्टि पदार्थों में सम्यक् अनुपात, संगठन तथा निर्माण कौशल आदि से होती है–'औदात्य' की स्थिति भिन्न है—एक तो उसके पीछे कलात्मक दक्षता उतना महत्त्व नहीं रखती जितनी प्रातिभ क्षमता। दूसरी बात यह भी है कि औदात्त्य में विशालता का केन्द्रीय महत्त्व है—वह चाहे आंतरिक भावनाओं या विचारों में हो या बाहरी आकार और प्रकार में। औदात्त्य में न तो सौंदर्य की तरह सुडौलपन होता है और न ही उसमें प्रेमपर्यवसायी आकर्षण ही। उससे तो भय –– उत्पन्न होता है—वह अपनी शक्ति से हमें चकित करता है। वर्क मानता है कि अतिशय परिष्कार औदात्त्य के प्रतिकूल है। वह मानता है कि औदात्त्य सौन्दर्य की अपेक्षा कुरूपता के कहीं ज्यादा निकट है क्योंकि दोनों में निश्चित रचनात्मक व्यवस्था तथा निर्माणात्मक संयम की कमी रहती है। काण्ट भी सौंदर्य और औदात्त्य की दो भिन्न कोटियाँ मानता है—यह अवश्य है कि दोनों चतुर्दिक् व्याप्त नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत आकर उसके अधीन रहते हैं। सौंदर्य का संबंध प्रेम और आनन्द से है किन्तु औदात्त्य की कल्पना के अनुसार उसमें पीड़ा से आनन्द आविर्भूत होता है। काण्ट कहता है कि विशालता तथा नैसर्गिक शक्तियों के प्रबल आलोडन एवं आघात के सम्मुख मानव मन में भय उत्पन्न होता है और वह क्षणभर के लिए दमित हो जाता है—किन्तु मानवमन अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति के अनुसार तत्काल ही नवोत्थान का अनुभव करता है। इसी अन्तिम अवस्था में उसे आनंद की अनुभूति होती है। सौंदर्य का संबंध अनिर्वायतः 'रूप' से होता है जब कि औदात्त्य में अरूप का भी समावेश है। यह औदात्त्य मैथमेटिकल भी है और डाइनामिकल भी। पहला दिक् और काल में सीमित है और

इस तथ्य को व्यक्त करता है कि मानव ज्ञानेन्द्रियाँ संपूर्ण अनुभव को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। दूसरे प्रकार में असमर्थता की भावना और भी गहरी हो जाती है। सौंदर्य और औदात्त्य में एक अंतर और भी बताया गया है कि एक में Pleasur ableness of pleasure होता है दूसरे में Pleasure ableness of pain होता है। सौंदर्य असीम में ससीम की अभिव्यक्ति है औदात्य ससीम में असीम की। औदात्त्य को सीमा में बाँधना कठिन हो जाता है–उसकी संपूर्ण अभिव्यक्ति संभावना से परे है। वह स्वच्छंदतावादी काव्य के समीप है और उसका निकटतम संबंध प्रतीकवादी व्यवस्था से है।

अरस्तू और होरेस ने जिस आनन्द को कला का उद्देश्य माना है वह औदात्त्य के आनन्द से भिन्न है। उनके आनन्द का संबंध सौंदर्य से है। औदात्त्य से संबद्ध आह्लाद की तह में भय, आश्चर्य, पीडा आदि अन्यभावनाएँ भी रहती है। भारतीय रसानुभूति की प्रकृति भी भिन्न है। पाश्चात्य सौंदर्यवादियों के कलासिद्धान्त और यथार्थजीवन के बीच में जितना गहरा और अमिट व्यवधान है-उतना रससिद्धान्त में नही है। रससिद्धान्त में तो जीवनके व्यापारों और मानसिक प्रक्रियाओं का ही साधारणीकरण हो जाता है जिससे रसचर्वणा की संभावना उत्पन्न होती है। डॉ. राम अवध द्विवेदी का यह कहना कि रस की परिधि के भीतर भयावह विषयों और पदार्थों का स्थान नहीं होता और वहाँ करुण रस भी कुछ[४८] वर्ज्य ही है– सर्वथा अस्वीकार्य है। उनका यह कहना भी विचित्र लगता है कि जिस दिन रस के लोकोत्तर स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सफलता पूर्वक हो जायगा–उस दिन रससिद्धान्त की मूलभित्ति टूट जायगी।[४९]

रससिद्धान्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, काव्य के अनुभव आनन्द की व्यवस्थामूलक व्याख्या है। पश्चिम में भी व्यवस्थावादी विचारक प्राचीन और नवीनयुग में हुए है। अरस्तू विशपवटलर तथा आई.ए.रिचर्डस आदि व्यवस्था वादी ही हैं। ये सब मानते हैं कि कला द्वारा मानसिक व्यवस्था और मानसिक शांति उत्पन्न होती है। रहस्यवादी भी 'आनंद' की बात करते है–पर वहाँ वे केवल माध्यम रहकर ताटस्थ्य सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। कला या काव्य का कलेवर है– 'सुंदर' और आत्मा है–रस।

साधारणीकरण – एक प्रक्रिया है जो काव्यसामग्री से प्रमाता के मन पर उभरे आनन्दात्मक प्रभावकी व्याख्या करता है पाश्चात्यचिन्तक कहते है कि कला से ऐसी

भ्रांति उत्पन्न होती है जो आनन्दायिनी होती है और कला अनुकरण है। अनुकरण का चाहे जो भी अर्थ किया जाय– 'भ्रांति' उसका मुख्य ध्येय बनी रहेगी। कालरिज भी मानता है कि कला आस्वाद के क्षणों में सहृदय अपने तर्क एवं अविश्वास के स्थगन में योगदान करता है–फलतः वह काव्य के प्रभाव ग्रहण में सक्षम हो पाता है–अनुकार्य और अनुकर्ता के बीच साधरण देखकर उसमें अन्यथा बोधात्मक भ्रांति होती है। इस भ्रांति का उद्‌भव अज्ञान या मानसिक प्रमाद से नहीं, प्रत्युत यथार्थ और कल्पना के अद्‌भुत सहयोग से होता है। अभिनव गुप्त भी कहते हैं,

"प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्या -
-दिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया
स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम्"[५०]

नाट्य (अनुकरणात्मककला) है क्या–प्रत्यक्षकल्प अनुव्यवसाय का विषय है–लोक प्रसिद्ध सत्य-असत्य की कोटियों से निर्मुक्त–और सम्पूर्ण लोक द्वारा साधार तथा स्वगत भावना का विषय बनकर चर्व्यमाण अर्थ। पाश्चात्य चिंतन इस भ्रांति के मूल में अन्विति को एक सहभागी कारण मानता है। पर आगे चलकर स्वच्छंदतावादी नाट्य धारा में 'प्रभावैक्य' पर दृष्टिकेन्द्रित हुई–'भ्रांति' के मूल मे भी वही है और परिणति में भी।

साधारणीकरण के संदर्भ में पाश्चात्य काव्य दर्शन का इतना विस्तृत उपस्थापन इसलिए किया गया ताकि उनके अभिमत 'आनन्द' (काव्यानन्द) को स्वाभिमत काव्यानन्द के समानान्तर रखकर देखा जाय और देखा जाय कि 'सामग्री' से 'आनन्द' तक पहुँचने के संबंध में वे क्या कह रहे हैं–कैसे कह रहे हैं। यह सवाल तो सार्वभौम है–अतः उसकी संभावना की जा सकती है।

उनलोगों ने 'भाव' को भी केन्द्र में रखकर विचार किया है और 'सौंदर्य' को भी–आनन्द का प्रसंग उभयत्र है– अतः प्रक्रिया पर विचार उभयत्र संभव है।

दैवी *उन्मांद –– यवनाचार्य प्लेटो का विश्वास है कि काव्यदेवी में एक चुम्बकीय शक्ति होती है–जो सर्जक, पाठक से होती हुई श्रोता या ग्राहक तक में संक्रान्त हो जाती है। इस दैवी उन्माद में सर्जक की बोधशक्ति प्रसुप्त हो जाती है और वह उस प्रेरणा की अभिव्यक्ति में माध्यम बन कर रह जाता है। वर्ण्य से सर्जक का पूर्ण

---

* 'इओन - शीर्षक संवाद - प्लोटो : सेतोक्शन सं. रैफेल डेम्स, २३९

तादात्म्य हो जाता है-और उसकी चेतना का विस्तार हो जाता है इसी के फलस्वरूप ग्राहक की आत्मा हर्षोल्लास का अनुभव करती हुई वर्णनीय स्थलों के बीच संचरण और वर्णनीय भावों का समानुभव करने लगती है। लयबद्ध काव्यश्रवण वर्ण्य से हृदयसंवाद और फिर समानुभूति–फलतः हर्षोल्लास–का क्रम चलता है। उभयदेशीय आचार्यों के दृष्टिभेद के बावजूद इस धारणा में आनन्दवर्धन और अभिनव प्रतिफलित दृष्टिगोचर होते हैं। जब आनन्दवर्धन कहते हैं–"सरस्वती स्वयमेवाभिमत - मर्थमाविर्भावयति"[५१] जब अभिनव कहते हैं– 'प्रतिभापरपर्याय वाग्देवता'[५२] तथा 'स एवतथाभूतविभाव तदुत्थाक्रन्दाद्यनुभवचर्वणाया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमात् आस्वाद्यतां प्राप्तः"[५३]— तब कितनी एकरूपतालक्षित होती है। 'वंदे तां प्रतिभां शिवाम्'[५४] से ये लोग सरस्वती या शिवा को सर्जक में उन्मीलित 'प्रतिभा' ही कहते हैं। यह प्रतिभा बुद्धि से परे और स्वतंत्र है। सर्जक में प्रतिभा की कारयित्री क्षमता और ग्राहक में भावयित्री क्षमता सारी आन्तरालिक प्रक्रिया सम्पन्न कर देती है।

विरेचन – अरस्तू का प्रभावविश्लेषण 'विरेचन' के रूप में प्रख्यात है। प्लेटो जहाँ यह कहता था कि काव्य से भाव उत्तेजित होकर हमारे अध:पतन का कारण बनती हैं वहाँ अरस्तू ने उनसे अपना मतभेदव्यक्त करते हुए कहा कि काव्यानुशीलन से, नाट्य प्रेक्षण से हमारी भावनाएँ– विशेषकर अवांछनीय और कष्टकर भावनाएँ- उत्तेजित नहीं होती–अपि तु उनका परिष्कार एवं शमन होता है–'फलतः चित्त में शांति उत्पन्न होती है। सामग्री-काव्यनाट्य सामग्री-किस प्रकार बदलकर रोचक और शांतिदायिनी होती है–'प्रक्रिया' के अंतर्गत इसी चिरंतन समस्याका समाधान आचार्य अपने ढंग से देता है। अरस्तू के रेचन की व्याख्या विद्वानों ने तरह-तरह से की है। दो पक्ष स्पष्ट उभरे हैं–रेचन या परिष्कार 'व्यक्ति' का होता है अथवा उसकी 'भावनाओं' का? दूसरा पक्ष कहता है कि भावनाएँ विलुप्त या नष्ट नहीं होती–केवल उनका उदात्तीकरण या परिष्कार होता है। उग्र एवं आपत्तिजनक भावनाएँ ट्रेजेडी पढ़ने और देखते समय निर्वैयक्तिक तथा सार्वभौम बनकर सामने आती हैं–फलतः आनंदमय प्रभाव डालती हैं। प्रस्तुति की अनुकरणात्मकता भी एक कारण है। इस तरह अनुकरण, साधारणीकरण और रेचन का सहज ही घनिष्ठ संबंध आ जाता है। इस रेचन सिद्धान्त का कल्पना सिद्धान्त से भी पारस्परिक सहयोग सिद्ध हो जाता है। प्रो. रिचर्डस मानते हैं कि काव्यभावना से मन के विरोधी आवेगों में संतुलन आ जाता है– इस संतुलन से मन में वह निर्वैयक्तिक दशा उत्पन्न होती है जिससे केवल

आनन्दानुभूति होती है। कल्पना जीवन का अनुकरण अर्थात् नवनिर्माण करती है। वस्तुतः ट्रेजेडी केवल एक-दो मनोभावों को ही उत्तेजित और परिष्कृत नहीं करती अपितु प्रेक्षक के समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। इससे रेचनासिद्धांत का व्यापकीकरण होता है। इस सिद्धान्त को भय-करुणा से और आगे फैलाकर सौंदर्यकाव्य और शृंगारकाव्य तक में संचरित किया जा सकता है। यहाँ भी कामवासनाका परिष्कार ही होता है और उनका वेग संतुलित तथा संयत होकर कलात्मक आनन्द प्रदान करता है। युंग ने भी माना है कि कविता में अप्रतिहत वेग से प्रवाहित होने वाली जीवनीशक्ति निबद्ध होकर अपना अपेक्षाकृत संयत और नियंत्रित रूप प्रस्तुत करती है। इस प्रकार 'विरेचन' का निषेधात्मक ही नहीं विधेयात्मक व्याख्या के साथ-साथ साधारणीकरण का संदर्भ भी प्रस्तुत हुआ है।

इस प्रकार यूनानी आचार्यों के आशय को लंबे समय तक व्याख्यात किया गया। १९ वी शती से 'सौंदर्य' और 'सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया' पर विशेषतः विचार आरंभ हुआ।

Empathy - या समानुभूति का सिद्धान्त –

मूलतः यह शब्द मनोविज्ञान का है। वहाँ प्रत्यक्षबोध तथा गतिवाही और संवेदी स्नायुओं की प्रक्रिया एवं कार्य विधि के निरूपण के संदर्भ में मानव की समनुभूतिक प्रतिक्रिया और प्रक्रिया का साक्षात्कार वर्णित है। वहीं से साम्यवश यह शब्द सौंदर्य शास्त्र के क्षेत्र में उधार लिया गया है। सौंदर्यानुभूति के संदर्भ में श्रीमती लीवर्नन ने कहा है कि यह वह प्रक्रिया है जिसमें द्रष्टा की क्रियाओं-चेष्टाओं का दृष्टवस्तु के गुणों में प्रक्षेपण होता है–वे उसी में लीन हो जाते हैं। उसी क्रम में इन्होंने वैशिष्ट्य, व्यक्तितत्त्व से मुक्ति अथवा उनके परिहार की चर्चा की है। जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने 'ग्रीवाभङ्गामिरामं...की रसपरक व्याख्या करते हुए सबतरफ से चेतना को हटाकर 'भीति' मे लीन कर देते हैं–उसी प्रकार ली ने भी प्रतिभा के उठे हुए हाथ–के दर्शक में केवल 'उठान' में ही अपनी चेतना को केंद्रित कर दिया है। वास्तव में दृष्टवस्तु में संक्रमण केवल शारीरिक और आत्मिक चेष्टाओं का ही नहीं होता अपितु तात्कालिक समग्र सांवेगिक स्थिति (Yobis imotional state) का होता है। इस क्रम में हमारा सम्पूर्ण अहम् अचेतन रूप से दृश्य या वर्ण में विलीन हो जाता है-'चेतना की तदाकार परिणति हो जाती है। दोनों के बीच का द्वैतभाव निःशेष हो जाता है।

इससे यह मान लेना कि प्रत्येक समानुभूति सौंदर्यात्मक सहानुभूति ही होती है ठीक नहीं। सौंदर्यानुभूति के क्षणों में न तो हमारा चिन्तन दृश्य के सत्यासत्य पर केन्द्रित होता है और न ही व्यावहारिक हानिलाभ की चिन्तापर। दृश्यको एस्थेटिक एंज्वायमेण्ट का साधन बनने के लिए उसका कलात्मक होना अनिवार्य है। कलात्मक वस्तु का बिंब ऐन्द्रिय अथवा बिम्बरूप में मानस प्रत्यक्ष आवश्यक है। सौंदर्य की शर्त यह है कि वह हमें आनन्द दे। इसलिए वह वस्तुगत होता है न कि यादृच्छिक और निजी सा आत्मगत। वस्तु का यह रूप द्रष्टा की कल्पना से निर्मित होता है। फलतः सुंदरवस्तु एक तरफ भौतिक संवेद्यवस्तु है और दूसरी तरफ प्रेक्षक की आन्तरिक मानसिक व्यापृति। कलावस्तु की सृष्टि इन्हीं के समन्वय की परिणति है। इस वस्तु के अनुभवक्षण में हमे आत्मविस्मय हो जाता है–चेतना का विषय से तादात्म्य हो जाता है। यह सब अज्ञातभाव से हो जाता है–यही समानुभूति है पूर्व विवेचित तादात्म्य वाली बात यहाँ भी है।

पृथक्करण का सिद्धान्त

वोरिंजर (जर्मन) मानता है कि अमूर्त सौंदर्यरूपों की सृष्टि जिस प्रबल गत्यात्मक जीवनी शक्ति से होती है-वह जगत् की नश्वरता के प्रति सचेत होकर आध्यात्मिक विकास के संदर्भ में उनसे अपना संपर्क काटने पर ही उदित होती है। यानी जागतिक विषयों से सम्पर्क के विच्छिन्न होने की मात्रा जितनी बढ़ेगी–सर्जनात्मक क्षमता उतनी बढेगी। यह बात सर्जन और ग्रहण–दोनों पक्षों से कही जा रही है। इस सर्जना में सजहवृत्ति सक्रिय रहती है–बुद्धिवृत्ति नहीं। पृथक्करण की यह प्रवृत्ति वस्तुओं को उसकी सापेक्षतासे काटकर निरपेक्ष और सनातन बनाना चाहती है। वास्तव में एक ही सामान्य आवश्यकता की ये दो अभिव्यक्तियाँ है। यह आवश्यकता है–आत्मापसरण-सामाजिक की सामान्यजीवनानुभूति से मुक्ति। वह एक ओर वस्तु में आत्मप्रक्षेपण या विलयन से होती है–दूसरी ओर शाश्वतारूपों के कल्पना = धृत अनुचिंतन के माध्यम से सामान्य जीवनानुभव के अतिक्रमण से होती है। यही व्यावहारिक मनोदशा से ऊपर या पृथक् हो जाना है।

मानसिक अन्तराल का सिद्धान्त :

'इम्पैथी' विलयन है–वेद्यान्तर विगलन है, 'एब्स्ट्रैक्शन' अतिक्रमण है–व्यावहारिक मनोभूमि से ऊपर उठ जाना है– जबकि 'साइकिकडिस्टेन्स' निःसङ्ग संगता है–कारण,

कला में 'प्रयोजनातीत प्रयोजन' निहित रहता है। सर्जक और आस्वादयिता व्यावहारिक संबंध से दूर रहकर कलात्मक संगस्थापित करता है। पहला निरोधपक्ष है और दूसरा विधेयात्मक पक्ष। यह दूरी दैशिक भी है कालिक भी है और व्यावहारिक दृष्टि से मानसिक भी। इस प्रकार यह एक नितान्त महत्त्वपूर्ण और व्यापक सिद्धान्त है। इसका संस्थापक है–एडवर्ड बुलो। अमानवीकरण (डीह्यूमैनाइजेशन) – का सिद्धान्त।

स्पेन का प्रख्यात दार्शनिक गैसेट का कहना यह है कि कलाकृति न प्राकृतिक-प्रकृतिनिर्मित-होती है और न ही यथार्थमानव रूप –वह इन दोनों से अतीत होती है–यह उभयभिन्न शुद्ध कला होगी। आस्वादयिता इसके आस्वादन काल में स्व-परभाव मुक्त चेतना का हो जाता है। आस्वादन पक्ष से यही अमानवीकरण है। यह भी प्रक्रिया में कहीं आश्रय से भावक का तादात्म्य मानता है। कलाकार मानवीय पर्याय का तटस्थ द्रष्टा होता है–किसी व्यावहारिक प्रयोजन से जुड़ा हुआ उसका दर्शन नहीं होता। उसका अनुभव परिभावनात्मक (Contemplation) होता है। उसकी अंहता-ममता-अप्रभावित रहती है। इसी अर्थ में वह अ-मानवीय है।

भावसंक्रमणवाद का सिद्धान्त

इसका उद्‌भावक है–टालस्टाय। श्रोता या दर्शक में रचनाकार द्वारा अनुभूत भावका ही संक्रमित हो जाना कला है। यही कला की सिद्धि है। स्वानुभूत भाव को अपने में पुनः उद्‌बुद्धकर विभिन्न माध्यमों से सहृदय में संक्रान्त करदेना ही कलाकार की पहचान है। इस प्रक्रिया के प्रभाव से आस्वादयिता रचनाकार से एकात्म हो उठता है। रचयिता लोक हृदय होकर रसयिता को भी वहीं वेद्यान्तर विगलन द्वारा पहुँचा देता है।

संवेग संतुलन का सिद्धान्तः मूल्यसिद्धान्त

उपर्युक्त सारे सिद्धान्त इस अर्थ में प्रभाववादी है कि वे सभी सौंदर्य से भावना को उद्‌बुद्ध कर देते हैं। ये सब Affective Theories है। यह सिद्धान्त आई.ए.रिचर्डस का है। कलाकृति मानसिक संवेगो में परिभावन contemplation के कारण संतुलन पैदा करती है। उसने उक्त सभी सिद्धान्तों को सदोष बताया है। इन्होंने एतदर्थ मनोविज्ञान का सहारा लिया और बताया कि कला भी जीवन की अन्य अनुभूतियों की तरह ही एक अनुभूति है–वह लोकोत्तर नहीं है। उन्होंने सौंदर्य का आधार

मूल्यवत्ता को बताया और मूल्यवत्ता इसमें है कि विरोधी मनोवगो में व्यवस्था और संतुलन केवल कला ला सकती है। सौंदर्य और तज्जन्य आनन्दानुभूति जैसी कोई अतिरिक्त वस्तु होती ही नहीं। इस प्रकार सौंदर्य की मूल्यवत्ता वैज्ञानिक है।

इस प्रकार कला की सामग्री से मनोनुकूल विश्रांति तक पहुँचने में जो प्रक्रिया है - उसकी पूर्वी, पश्चिमी, प्राचीन और नवीन चिंतकों ने दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा विविध प्रकार के ज्ञानालोक में तरह तरह की व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। इनमें स्पष्ट दो वर्ग लक्षित होते हैं। एक है - जो काव्यानुभूति को जीवानानुभूति (व्यावहारिक अनुभूति) से सर्वथा पृथक् मानता है - उसे लोकोत्तर और अलौकिक कहता है और व्यापक प्रक्रिया की प्रस्तुति करता है - दूसरा उसे जीवानानुभूति का ही एक प्रकार मानता है - हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि कलाकृति मनोवेगों में प्रतीक्षित संतुलन ला देती है और अन्यकृति असंतुलन रखती है। रिचर्डस् के इस पक्ष पर भी ग्रहण लग चुका है। मनोविज्ञान के जिस सिद्धान्त के आधार पर उनका मूल्यसिद्धान्त टिका है - वह अभी तक सर्वस्वीकृत नहीं हो पाया है। एतदर्थ स्नायुमण्डंल और मस्तिष्क की क्रियाओंका जो ढाँचा उन्होंने खड़ा किया है - वह परीक्षणीय है। परीक्षणीय इसलिए है कि उसमें वस्तु की सत्ता को पर्याप्त मान्यता नहीं मिली है। दूसरा वर्ग सौंदर्य और प्रभाव (आनन्द) की बात मानता है और कलात्मक अनुभूति को, जीवानानुभूति से भिन्न मानता है। उसकी प्रक्रियामें साधारणीकरण के तत्त्व यहाँ -वहाँ किसी न किसी रूपमें मिलते ही हैं।

३.३ आगम (कश्मीरी अद्वैत दर्शन) सम्मत चिन्तन के आलोक में भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त सम्मत रससूत्रकी व्याख्या

'अविभक्त' का दर्शन - साक्षात् अपरोक्षानुभूति है। जो हमारा चरम गंतव्य है। मार्ग चाहे परमार्थ साधना का हो, चाहे विधिनिषेधमय व्यवहारमार्ग का हो अथवा सर्जनात्मक कला या काव्य का - प्रत्येक मार्ग हमें वहीं ले जाता है। श्रुतियाँ उस 'अविभक्त' तत्त्व को 'रसो वै सः' कहकर उसकी रसमयता का निर्देश करती हैं। मुनि भरत कहते हैं – *न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।* [५५]

काव्यमें प्रवृत्ति का मूल यही है। आनन्दवर्धन कहते हैं

व्यंङ्ग्य व्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ [५६]

उनकी धारणा है कि यद्यपि काव्य और संप्रेष्य के बीच व्यंग्यव्यंजक भावमें विविध प्रकार की संभावना है तथापि कवि को उसे रसमय बनाने के प्रति ही अवधानवान् होना चाहिए। परिपक्वमतिवालों का प्रातिभ व्यापार यदि इस पथ से हट जाय तो उनको यह स्वयम् अच्छा नहीं लगता।

इस 'रस' को अभिनवगुप्त भी भरतमुनि की तरह 'आस्वाद्य' कहते हैं - फिर अपनी अंतर्मुखी प्रकृति - विषयी परक स्वभाव के कारण - 'आस्वादनात्मा' भी कहते हैं।

आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ इष्यते । [५७]

वाग्देवतावतार मम्मट ने अभिनव का पक्ष अपने शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहा है - "व्यक्तः स्थायी ... स्वाकार इवाभिन्नोऽपि — गोचरीकृतः .... रसः"। टीकाकार झलकीकर वामन ने योगाचार बौद्धों की दृष्टि से 'आस्वाद्य' और 'आस्वाद' को एक ही कह दिया है। उन्होंने कहा हैं - "स्वस्य ज्ञानस्य आकारविशेष एव विषयः न तु ज्ञानादन्यः इति हि योगाचारमते यथा ज्ञानस्वरूपस्य विषयस्य ज्ञेयत्वं तथा आनन्दात्मकास्वादस्वरूपस्यापि रसस्यास्वाद्यत्वमप्यविरुद्धमिति भावः। [५८]" अर्थात् जैसे योगाचार मत में ज्ञानस्वरूप विषय ही ज्ञेय होता है - ज्ञान से ज्ञेय भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार आनन्दात्मक आस्वादरूप रस की आस्वाद्यरूपता भी विरुद्ध नहीं है - अर्थात् योगाचार की दृष्टिसे आस्वाद्य और आस्वाद एक ही हैं। अभिप्राय यह कि रसनेन्द्रिय ग्राह्य 'रस' का काव्यशास्त्र में 'आस्वाद्यत्व' की समानता के आधार पर 'रस' शब्द का उपचारतः ' तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है - आस्वाद्य, आस्वाद और उभयात्मक। पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट की पंक्तियों —"व्यक्तः स विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः" [५९] - की व्याख्या करते हुए कहा है (शाङ्कर वेदान्त के प्रभाव में) कि भग्नावरण चित् हि 'व्यक्ति' है - वही रसोपयोगी इतर सामग्री के साथ स्वाभिन्न आनन्दांश को प्रकाशित करता है। यहाँ स्वाभिन्न का आशय 'प्रकाशात्मप्रमाता से अभिन्न' बताया गया है। इस प्रकार परम्परा में 'रस' शब्द की व्याख्या वस्तुनिष्ठ, आत्मनिष्ठ तथा समन्वित रूप से की गई है। काव्य का परमार्थ 'प्रतीति' ही है - कहा गया है - 'प्रतीति परमार्थं हि काव्यम्"। इस दृष्टि से रस को तत्त्वतः आस्वादनात्मा, रसनात्मा कहना अधिक उचित होगा।

जहाँ तक 'आगम' के प्रभाव में रस व्याख्या का संबंध है - मुख्यतः भट्ट नायक और अभिनवगुप्त की व्याख्याएँ ली जा सकती हैं। भट्ट नायक उत्पत्तिवाद,

अनुमितिवाद और, अभिव्यक्तिवाद तीनों का खण्डन करते हैं और 'भुक्तिवाद' की स्थापना करते हैं - वे न तो रस की (आत्मगत तथा परगत) उत्पत्ति मानते हैं, न अनुमिति मानते हैं और न ही अभिव्यक्ति - वे 'भोगवादी हैं' समस्या यह है कि यह 'भोग' क्या है?

इसकी व्याख्या के लिए लोचन, अभिनवभारती तथा प्रकाशकार आदि के ग्रंथों में उद्धृत पाठों को आधार बनाकर ही कुछ कहा जा सकता है। कारण, उनकी मूल व्याख्या तो उपलब्ध नहीं है। प्रकाशकार मम्मट की पङ्क्ति है -

सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन
भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः।[६०]

अर्थात् 'भोग' का स्वरूप है - सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय संवित्।[६१] 'काव्य प्रकाश' के टीकाकार 'प्रदीपकार' ने इसकी योजना सांख्यदर्शन के अनुसार की हैं। प्रभाकार का* मत भिन्न है।

प्रदीपकार का कहना है कि 'सांख्य'[६२] के अनुसार काव्य सामग्री और उससे जुड़नेवाला अंतःकरण - दोनों त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम हैं - इसलिए तत्तद् गुणों के उद्रेक से (इतर गुण का अभिमव कर के) उनका कार्य भी व्यक्त होगा। सत्त्व गुण का कार्य है - एकाग्रता (अचांचल्य) प्रकाशमयता तथा आनन्दमयता। प्रेक्षक की चित्तवृत्ति काव्य सामग्री पर एकतान हो जाती है - यह एकतानता सिद्ध करती है कि रजस् तथा तमस् को दबाकर सत्त्व का उद्रेक है और सत्त्व का उद्रेक है तो उसका परिणाम प्रकाश और आनन्द होकर रहेगा। इसलिए 'भोग' वह संवित् या प्रतीति है जहाँ सत्त्वोद्रेक वश प्रकाशानन्दमयता विद्यमान है। इस भोग में सामग्री तथा चित्तवृत्ति उभयत्र सत्त्वगुण रज एवं तम को अभिभूत कर स्वयम् उद्रिक्त है। श्री पञ्च पगेश शास्त्रीने भी - ''The Philosophy of Aesthetic pleasure'' में अभिनव भारती, की पंक्तियों के साक्ष्य पर भोगकी व्याख्या सांख्यदर्शनके आलोक में ही की है। मम्मट की शब्दावली की व्याख्या इतरत्र भी संभव है।

---

* प्रभाकार की पंक्ति है - "*सत्त्वोद्रेकादावरणभङ्गेसति आनन्दचैतन्यविषयीकरण-रूपाभुक्तिः*" प्रभा पृ. ६६. साधारणीकृत स्थायी का भोग होता है। वह स्थायी सत्त्वोद्रेक वश आवरणभंग होने पर आनन्द चैतन्य का गोचर होता हुआ भुज्यमान होता है। स्थायी की आनन्द चैतन्य गोचरता ही भोग है। इस कथन की सांख्य से संगति नहीं बैठती। आनन्द चैतन्य और स्थायी के बीच का आवरण भंग सत्त्वोद्रेक से होता है। प्रदीपकार ने संवित् को नजरंदाज कर दिया है। सांख्य का आनंद जड़ हैं।

पं. कान्तिचन्द्र पांडेय इसकी व्याख्या शांकर अद्वैत के आलोक में करते हैं। उनका पक्ष देखने से पहले कुछ और देखना आवश्यक है। सम्प्रति, यह देखा जाय कि 'लोचन' और 'अभिनव भारती' में 'भोग' परक पङ्क्तियाँ किस तरह की हैं?

"भाविते च रसे तस्य भोगः। योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तर-विकासात्मा रजस्तमो वैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृति विश्रान्ति लक्षणः परब्रह्मस्वादसंविधः"[६३]

'लोचन' की 'बालप्रिया'[६४] नामक एक टीका है। उसमें इसका आशय व्यक्त करते हुए इस तरह कहा गया है - भावना शक्ति के बल से रामादिगत प्रतीत स्थायी ही साधारणीकरणपूर्वक सहृदयों से भुज्यमान हो कर 'रस' कहा जाता है। यह 'भोग' अनुभवात्मक और स्मरणात्मक लौकिक प्रतितियों से भिन्न होता है। यहाँ सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है - पर अभिभूत रजस् एवं तमस् का भी — संबंध रहता है - अतः उसका परिणाम भी होगा ही। इसलिए इन दोनों के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्त्वमयी, वेद्यान्तर शून्य, (राजस) द्रुति (तामस) विस्तार और (सात्त्विक) विकास मयी प्रतीति का प्रवाह चलता है - फलतः स्वात्मचैतन्यरूप लोकोत्तर आनंद होता है। इस प्रकार 'भोग' के स्वरूप निर्धारण में नीचे लिखी बातें सामने आयी -

१. अनुभव-स्मरण जैसी प्रतीतियों से वह भिन्न हैं।
२. वह द्रुति - विस्तर - विकासात्मा है। क्योंकि वहाँ रज, तम और सत्त्वमय अन्तःकरण व्यापार शील है।
३. सत्त्वमय है।
४. निज चित्स्वभावभूत आनंद में विश्रान्त है।
५. ब्रह्मास्वादसविध है।

इस प्रकार भुज्यमान स्थायी की भोगात्मक प्रतीति की ये विशेषताएँ है। ध्यान देने की बात यह है कि सांख्यदर्शन के अनुरूप 'आनन्द' प्राकृत (सत्त्वपरिणाम)भूमि की वस्तु है, क्योंकि वहाँ पुरुष चिन्मात्र स्वभाव है, वेदान्तियों की भाँति चिदानन्दमय नहीं है। सेश्वर सांख्य की बात दूसरी है।

इसलिए 'काव्यप्रकाश' 'लोचन' तथा 'अभिनव भारती' - के आधार पर कुछ लोग 'भोग' की व्याख्या शांकरवेदान्त के आधार पर करते हैं। 'काव्यप्रकाश' और 'लोचन' की पंक्तियाँ ऊधर उद्धृत की जा चुकी हैं - 'अभिनव भारती' का भी उद्धरण देखलें - । 'अभिनव भारती' में भी लगभग 'लोचन' का ही पाठ ही है -

अत्यन्त सामान्य अन्तर के साथ। देखें - 'भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलात् द्रुतिविस्तारविकास-लक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति लक्षणेन परब्रह्मस्वादसविधेन परं भुज्यने"।[६५]

'लोचन' में 'निजचित् स्वभाव निर्वृति विश्रान्ति लक्षण:' पाठ है -अभिनव भारती में 'निज संविद् विश्रान्ति लक्षणेन' पाठ है। 'चित्' और 'संवित्' एक ही है। अर्थात् 'भोग' के स्वरूप में चिन्मय आनन्द' 'परब्रह्मास्वादसविध' विद्यमान है। भोग का चिदानन्द या संविदानन्दमय स्वरूप सांख्य सम्मत नहीं है। अत: कुछ लोग इसकी व्याख्या (अद्वैत) वेदान्त के प्रभाव में करते हैं। चिदानंदमय अद्वैतवेदान्तसम्मत ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। परब्रह्मास्वाद सविध' कहने वाला वेदान्त दर्शन से अवश्य प्रभावित होगा। उपर्युक्त उद्धृत पंक्तिसे 'रस' (आनन्द) की भूमि 'प्राकृत' नहीं, प्रत्युत सत्त्वगुण के उद्रेक से संभूत सत्त्व का सुखात्मक रूप ही नहीं, बल्कि उससे आगे बढ़कर उसे आत्मानंद से संवलित कहा गया है। वेदान्त दर्शन से प्रभावित होने में एक और तर्क हे। काव्यप्रदीप के प्रख्यात एवं प्राज्ञ टीकाकार वैद्यनाथ पायगुण्डे (प्रभाकर) का वक्तव्य। उन्होंने 'प्रदीप' कार की स्पष्ट सांख्यपरक व्याख्याके बावजूद जो अपना मत रखा है - वह पूर्णत: अद्वैत वेदान्त के आलोक में है। उन्होंने काव्यीय रसको आत्मानंद से संबद्ध करने के लिए यह कहा कि सत्त्वोद्रेक से चैतन्यानंद पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है और निरावरण चैतन्यानंद संवतित स्थायीभाव का रसात्मक भोग होता है -

"सत्त्वोद्रेकादावरणभङ्गे सति आनन्दात्मचैतन्याविषयीकरणरूपा[६६] *भुक्तिः"*

- प्रभा -

श्रीकांततिचन्द्र पाण्डेय का भी विचार है कि भट्टनायक पर वेदान्त का प्रभाव है। कारण, नाट्यशास्त्रकी पहली कारिका की व्याख्या में (ब्रह्मण यदुदाहृतम्) उन्होंने कहा है कि ब्रह्मा ने नाटक का निर्माण इसलिए किया कि लोग इसी से समझें कि किस प्रकार अविद्याविरचित भेद निस्सार है। विश्वमें दृश्यमान रूप निस्सार है यह नामरूप दृश्य असत्य है। इस प्रकार मंच पर जो कुछ भी दृश्यमान है - कल्पित है। मंचस्थ सामग्री का कल्पनानीत रूप ही उपादेय है। 'अभिनव भारती' में 'हृदय दर्पण' से भट्टनायक का मत इस प्रकार उद्धृत किया गया है - "*ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतम् - अविद्याविरचितानिस्सार भेदग्रहे यदुदाहरणीकृतम् -तन्नाट्यम्। तद् वक्ष्यामि। यथाहि*

कल्पनामात्रसारं तत एवानवास्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रसहं स्वप्नादिविलक्षणमपि ... तथा तादृशे विश्वमिदमसत्यनामरूपप्रपञ्चात्मकमिति" - पृ. ३५

इस उद्धरण से भट्टनामक का पक्ष स्पष्ट है। पाण्डेय जी ने स्पष्ट कहा है - "He followed the Vedant school and based his Theory upon the same school of Philosophy" - comparative Aesthetices 14 Vol. II. Page - 60

इस प्रकार भट्टनायक की व्याख्या का आधार अद्वैत वेदान्त है - यह माननेवाले भी हैं।

(गं) डॉ. प्रेमस्वरूपगुप्त भट्टनायक के 'भोग' की व्याख्या द्वैतवादी शैवागम के आलोक में करते हैं। उनका कहना है कि भट्टनायक पर मीमांसा का प्रभाव है। 'भावना' उसी शास्त्र से उधार लिया गया है। अभिनव ने उन्हें और कई स्थलों पर मीमांसक कहकर लताड़ा है फिर भी डॉ. गुप्त उन्हे शैव ही मानते हैं। पक्ष में कई तर्क देते हैं। एक तो यह कि 'भोग' से 'द्रुति - विस्तर - विकासात्मक' चित्तदशा सत्त्व-रज-तम के कारण नहीं हैं -। सांख्य के अनुसार 'भोग में सत्त्वका उद्रेक तो है - 'रजस्तमोनुवेघवैचित्र्य' भी है - पर 'द्रुति विस्तर विकास' को इस गुणमय से नही जोड़ना चाहिए। इस पर या तो आनंदवर्धन के गुणवाद (द्रुति, दीप्ति और विकास) का प्रभाव माना जाय अथवा इसका उत्स शैवागम में कहीं खोजा जाय। उनका मानना है कि त्रिगुणवाद का आगमन सीधे सांख्य से न आकर शैवदर्शन से आया है।[६७]

भट्टनायक इसलिए शैव जान पड़ते है कि अभिनव ने 'अभिनवभारती' (भाग १, अध्याय १ पृ. ६) में एवं शिवस्तुति परक उनका श्लोक उद्धृत किया है। श्लोक है-

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥[६८]

डॉ. काणे का ख्याल है कि यह श्लोक संभवतः 'हृदयदर्पण' का मंगल श्लोक है। अभिनव ने इसी प्रस्थान के उनके और भी श्लोक दिए हैं। श्लोक तो क्षेमराजने भी ऐसे उद्धृत किए हैं जिनमें शांकर ब्रह्म का उपहास और शिवभक्ति का यशोगान है

"नपुंसकमिदं नाम परंब्रह्म फलेत् कियत्?
त्वत्पौरुषी नियोक्त्री चेन्न स्यात् त्वद्भक्ति सुन्दरी"[६९]

यह भी सही है कि अभिनव उन्हें मीमांसकाग्रणी कहते हैं। तथापि कश्मीर का शैव परिवेश उनकी उक्त पंक्तियों के साक्ष्य पर उन पर प्रभाव डाल रहा था - ऐसा

स्पष्ट है। अभिनव से पूर्व वहाँ द्वैतवादी शैवागम का प्रवाह था - जो कर्मकाण्ड प्रचुर था - जिससे 'मीमांसा' का स्वभाव मिलता है - इसलिए मीमांसाग्रणी होना शैव प्रभाव के विपरीत नहीं जाता।

प्रो. कान्तिचन्द्र पाण्डेय का 'ब्रह्मणा यदुदाहृतं' 'अभिनव भारती' में उद्‌धृत व्याख्या पर समाधृत–– शांकर वेदान्त का पक्ष इसलिए अमान्य है कि उस टीकापर व्याख्या की संगति शैवीदृष्टि से भी लगाई जा सकती है। यदि यह संभव न होता तो अभिनव उसपर मौन न रहते। तीसरे 'संविद्' और 'भोग' जैसे शब्द शैव प्रस्थान में ज्यादा प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार डॉ. गुप्त भट्टनायक के 'भोग' पर द्वैतबादी शैवागम का प्रभाव मानते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि अभिनव इनसे केवल दो ही बातों में असहमत हैं - एक तो भावना ओर भोग का काव्य का अतिरिक्त व्यापार और दूसरा साधारणीकरण का पारिमित्य। भोग के स्वरूप - 'रजस्तमोनुविद्ध चित्त का सत्त्वोद्रेकी' तथा 'निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्ति' - पर अभिनव की किसी अतिरिक्त टिप्पणी का अभाव भी डॉ. गुप्त अपने पक्ष में एक प्रमाण मानते हैं।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय एक विश्रुत और प्रामाणिक आगमज्ञ हैं। वे 'अभिनवभारती' के 'ब्रह्मणायदुदाहृतम्' की भट्‌टनायक कृत व्याख्या में 'शैवीदृष्टि' का आभास नहीं पाते। डॉ. प्रेम स्वरूप गुप्त के कुल पाँच तर्क हैं -

१. भट्‌टनायक के कतिपय श्लोक शिवस्तुति परक हैं और शैवागमिकों द्वारा उद्‌धृत हैं।
२. अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का जो स्वरूप दिया है उसमें प्रयुक्त पदों की स्वरसवाही व्याख्या शैवागमके आलोक में ठीक-ठीक हो पाती है।
३. उन जैसे मीमांसकाग्रणी का जितना मेल द्वैतवादी शैवों से होता है - उतना अद्वैती शांकर मत से नहीं।
४. 'ब्रह्मणा' यदुदाहृतं की भट्टनायक वाली व्याख्या शैवागम के अनुसार भी की जा सकती है।
५. जिस प्रकार 'भावना' शब्द इन्होंने मीमांसासे लिया है, उसी प्रकार 'भोग' (निवृति, चिद्‌विश्रान्ति) शब्द द्वैतवादी शैवागम से लिया है।

जहाँ तक पहले तर्क की बात है गुप्तजीने तीन श्लोक उद्‌धृत किए हैं - जिनमें से एक संभवतः 'हृदयदर्पण' का मंगलश्लोक है। दूसरे में 'हर' की 'स्वच्छंद' विशेषण देते हुए स्तुति की गई है। तीसरे का उद्‌धरण क्षेमराज ने दिया है

और उसकी संगति वेदान्त के विरुद्ध शैवधारा से लगाई है - '*नपुंसकमिदं नाथ परं ब्रह्म फलेत् कियत् ।*

त्वत्पौरुषी नियोक्त्री चेन्न स्यात्त्वद्भक्ति सुन्दरी[७०] इन तीन तरह के श्लोकों में से पहली तरह के श्लोक तो न जाने कितने शांकर अद्वैतियों ने उद्धृत किए हैं। शांकर अद्वैती उपासना के स्तर पर प्रायः शिव के ही उपासक होते हैं। साथ ही शिवपरक स्तुति और स्तोत्र भी रंचा करते हैं। इसलिए शिवस्तुति परक श्लोकों के आधार पर किसीको निश्चित रूप से शैवागमिक मान लेना कहाँ तक उचित है। रही बात उद्धरण देने की - तो वह उद्धरण अपने अनुरूप बनाकर यदि अद्वैती क्षेमराज द्वैती भट्टनायक के स्तोत्र से दे सकते हैं तो शांकर अद्वैती भट्टनायक की क्यों नहीं दे सकते. 'परब्रह्म' की निर्गुणदशा के प्रति जब तुलसी कह सकते हैं।

अस प्रभु अछत हृदय अविकारी।
सकल जीव जन दीन दुखारी ॥[७१]

उसी प्रकार यहाँ भी 'परब्रह्म' को द्वैतभूमिक भक्ति का माध्यम लिए बिना अकारण मधुसूदन सरस्वती की भाँति कोई भी अद्वैती भक्त कह सकता है - अतः यह तर्क भी भट्टनायक को असाधारण रूप से शैवागमिक ही नहीं सिद्ध कर सकता।

दूसरा तर्क इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि 'लोचन' या अभिनव भारती' में 'भोग' का जो स्वरूप जिन शब्दों में उद्धृत किया गया है - वे शब्द भट्टनायक के अपने नहीं हैं। यदि वे उनके अपने ही होते तो दो स्थलों में पाठभेद नहीं होता। यह बात अलग है कि उनके आशय में कोई खास फर्क नहीं है। भाष्यकार शंकर तथा शैवागमसम्मत मत में बहुत दूर तक साम्य होने के कारण जिस प्रकार अभिनवगुप्त के मत को पण्डितराज जगन्नाथ ने शांकर अद्वैत के अनुरूप प्रस्तुत कर दिया - हो सकता है कि इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने भी शांकर अद्वैतानुरोधी भट्टनायक की व्याख्या को शैवागमिक पदावली में प्रस्तुत कर दिया हो।

तीसरे तर्क द्वारा मीमांसक भट्टनायक का शांकर अद्वैती होने की अपेक्षा द्वैतवादी शैवागमिक होना कहीं ज्यादा तर्क संगत समझा गया है - इस विषय में मेरा यह कहना है कि जब शांकर अद्वैती 'व्यवहारे भाट्टनयः' मानकर उनसे साधन के क्षेत्र में अपना अविरोध मानते हैं तो मीमांसा में अटूट आस्था रखनेवाले अद्वैती अप्पय दीक्षित की भाँति मीमांसक भट्ट नायक को साध्य की दृष्टि से शांकर अद्वैती कहने में या मानने में क्या आपत्ति हैं।

चौथा तर्क जो भट्ट नायक के उद्धरण से संवद्ध है। इस विषय में तो स्वयम् गुप्तजी का भी मत है कि उन पंक्तियों की व्याख्या शांकर अद्वैत और शैवागम दोनों की दृष्टि से हो सकती है। दूसरे यहाँ तो यह संदेह भी होता है कि गुप्तजी के अनुसार जब भट्टनायक द्वैतवादी हैं - तो फिर द्वैतवादी या भेदवादी व्यक्ति 'भेद' का ही खंडन करेगा? जैसा कि उद्धरण अंश में है। तीसरी बात यह भी है कि शैवागमों में 'पारमेश्वर शक्तिपात' 'दीक्षा' तथा 'उपाय' द्वारा परमपुमर्थ — की बात की जाती है– पर उक्त उद्धरण में श्रवण - मनन - आदि शांकर धारा की प्रसिद्ध पदावली गृहीत है और उससे परमपुमर्थ प्राप्ति की बात की गई है। उक्त उद्धृत अंश की संगति द्वैतवाद की दृष्टिसे भट्टनायक भी कभी नहीं बिठा सकते -फिर सच्चा द्वैतवादी अद्वैती दृष्टि क्यों अपनाएगा? उद्धृत अंश में 'सकल नामरूपात्मक प्रपंच को जो मिथ्या और निस्सार कहा गया है - वह शांकर अद्वैत मत से ज़्यादा सुकरता के साथ व्याख्येय है। यह सही है कि शैवागम में भी 'माया' और 'अख्याति' या अज्ञान की बात की गई है - पर अविद्या नाम का कोई तत्त्व जो सकल नामरूपात्मक प्रपंच का मूल हो - नहीं कहा गया। आगम की अख्याति या अज्ञान हमारी चेतना को संकुचित करता है - व्यापक क्षमताओं को परिमित कर देता है - समझ को अन्यथा कर देता है - न कि शक्ति - संभूत विश्व की स्थिति को निस्सार कहता है। सत्य विश्व का अन्यथावबोध उस के सीमित होने का परिणाम है। चलती गाड़ी में वृक्षों चलना हमारी गति की उपज है - वृक्ष तो अपनी जगह सही है - फर्क केवल प्रतीति या समझ में है। आगम भेद को निस्सार नहीं मानता - तभी तो वह द्वयात्मक अद्वयवादी है - वह शांकर प्रस्थान की तरह द्वैत से भीत नहीं है। वह सर्वगाही है - त्यागी नहीं हैं। छत्तीस तत्त्वों में 'माया' तो है - पर 'अविद्या' संज्ञा का प्रयोग कहीं नहीं हैं। 'माया' शैवागम की और 'अविद्या' शांकरप्रस्थान की क्या एक हैं? माया केवल परिच्छेद करती है - 'अख्याति' स्वेच्छया स्वरूपगोपन करती है - हमारी शक्तियाँ कंचुकों से परिच्छिन्न हो जाती हैं - न कि 'अख्यातिं' या 'माया' स्वरूप गोपन या संकोचनपूर्वक इन्द्रजाल रचिती है। यहाँ तो सारा विश्व या प्रपंच अन्तःस्थ संभावना का बहिर्भाव है - अन्तः स्थित का ही बहिः प्रकाश है। वह अविद्याविरचित निस्सारभेद' नहीं है। मुक्त पुरुष उसका स्वाङ्गवत् अनुभव करता है। शांकर प्रस्थान ज्ञान बाधित संसार की अनुवृत्ति करता है। मुक्तावस्था में गुप्तजीने 'स्वप्नादिविलक्षणम्' को जगत् का विशेषण समझ कर जो शांकर अद्वैत से भेद प्रकट किया है कि शांकर प्रस्थान में जगत् स्वप्न कल्प

है - पर भट्टनायक ने उसे 'स्वप्नादि विलक्षणम् कहा है - वह भी ठीक नहीं। 'स्वप्नादि विलक्षण' - वहाँ जगत् का नहीं' प्रत्युत 'नाट्य' का विशेषण है। तभी 'स्वप्नादि' में 'आदि' के ग्रहण की सार्थकता होगी। तभी अभिनवगुप्त आदि ने 'नाट्यप्रतीति' को स्वप्न आदि लौकिक प्रतीतियों से भिन्न कहा है। 'असत्यं भाति' की उक्ति जितना 'अनिर्वचनीय ख्याति' से मेल खाती है - उतनी 'आभास ख्याति' से नहीं। 'स्वप्नादिविलक्षण' का पाठान्तर 'स्वप्नादविलक्षणम् भी हो सकता है।

पाँचवा तर्क इसलिए कोई महत्त्व नहीं रखता कि जब अन्याय तर्कों से भट्टनायक की आस्था शांकर अद्वैत में सिद्ध होती है - तो महज एक शब्द कहीं से उधार ले लिया - इसलिए वे भिन्न प्रस्थान के हो गए?

फिर डॉ. गुप्त ने शैवदर्शनकी जहाँ विस्तार से प्रस्तुति की है - वह अद्वैती शैवागम की ही है। द्वैत शैवागम किन बातों में उससे भिन्न है - यह बताना था और तदनुरूप समन्वय भट्टनायक से करना था।

गुप्तजी उनका दर्शन स्पष्ट करते हैं और यह करते हुए उन्होंने उनमें सिद्धान्त शैवागम का द्वैती संस्कार भी माना है - साथ ही अपने समय के कश्मीरी अद्वैती दर्शन का परिवेश और प्रभाव भी। इस तरह तो भट्टनायक ढुलमुलयकीन लगते हैं। उनमें द्वैत का अतीत संस्कार और वर्तमान का अद्वैती प्रभाव दोनों सक्रिय हैं।

यह सही है कि अभिनव ने 'साधारणीकरण' और 'भोग' शब्द से असहमति नहीं व्यक्त की - पर भट्टनायक सम्मत तत्संबद्ध अवधारणा से असहमति व्यक्त की। भट्टनायक सम्मत 'साधारणीकरण' तथा 'भोग' - उभयगत पारिमित्य का निराकरण किया है। स्वीकार भी किया है - 'मतानितान्येव तु शोधितानिं" शब्दतो वे ही हैं परन्तु अवधारणा संशोधित है। वे नहीं मानते कि 'भोग' में चित्तगत द्रुति - विस्तर - विकास का त्रित्व ही होता है अपितु वैचित्र्य का आनन्त्य है। 'भुक्ति' व्यक्ति की सीमा तोड़कर समष्टिगत संविद् दर्पण के पारस्परिक प्रतिबिंबन से सागरायमाण हो उठती है - अभिनव की यह धारणा है। भट्टनायक द्वारा वासना संवाद (लोकोत्तर अनुकार्यों की वासना से संवाद) संबंधी धारणा का भी खंडन किया गया है। यह सही है कि चाहे भट्टनायक का 'भोग' हो या अभिनव का 'रसना, चर्वणा, संविद्विश्रान्ति, प्रमातृताविश्रान्ति, निर्वृति, प्रतीति' - आनन्दमय चित् का परामर्श उभयत्र है। यह परामर्श (विमर्श-हृदय) चित्तवृत्ति की भूमि पर होता है - उस समय वेद्य-विश्रान्त (फलतः व्यवस्थित) प्रकाशभाग गौण रहता है। वे स्पष्ट कहते हैं - 'रसना तद् गोचरी

कार्याश्चित्तवत्तयो रसा नव" (भीतिरेव भयानको रसः)[७२]। वे 'भुज्यमानाः' की जगह 'प्रतीयमानाः (रसाः) कहते हैं।

एक बात और जिस शैव दर्शन का वितान तान कर गुप्तजीने भट्टनायक की रस संबंधी अवधारणा को एक विशेष रंग दिया है - क्या उसी अभिनिवेश और प्रातिभ संरम्भ से 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की भट्टनायककृत व्याख्या पर शांकर प्रस्थान का वितान ताना है! उसमें प्रयुक्त शब्दावली पर किसका प्रभाव है- दिखाया है?

यह सही है कि भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत रसनिष्पत्ति पर आगम का प्रभाव है - पर जिस प्रकार वे 'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्' की व्याख्या शांकर प्रस्थान के आलोक में कर सकते हैं - क्या निर्वृति, संविद् - जैसे शब्दों से निर्गत अवधारणाओं की व्याख्या शांकर प्रस्थान में नहीं किया जा सकता? क्या पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसाही नही किया है? मतलब उन पर कई तरह के प्रभाव मान लिए जाएँ? द्वैतवादी - अद्वैतवादी शैवागमिक - शांकर तथा मीमांसासंबद्ध - ठीक है यह साहित्य (सहभाव) दर्शन है - सब चलेगा? अनुभव साक्षिक प्रतीतिकी उपपत्ति जिस भी विचार धारा से हो - साहित्य शास्त्री लगा सकता है। प्रकाशकार विज्ञानवाद का सहारा लेता है - फलतः उसे बौद्ध कह दिया जाय?

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय भट्टनायक पर शांकर अद्वैत का प्रभाव मानते हुए सांख्य के विपक्ष में भी एक तर्क देते हैं। उनका कहना है कि सांख्य दर्शन के अनुसार भोग के लिए विषय एवं विषयी का तैजस तथा प्रतिविवंग्राही अन्तःकरण पर संबंध होना आवश्यक है जब कि अद्वैत वेदान्त की आनन्दनिष्पत्ति मे संबंध की कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए दोनों दृष्टियाँ परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि एकही व्यक्ति एक ही स्थापना में दोनों को स्वीकार करें - यह संभव नहीं है। लेकिन अख्यातिवादी मीमांसा और अनिर्वचनीय ख्यतिवादी वेदान्त भी तो अविरोधी नहीं हैं। स्थलभेद (साधारणीकरण - मुक्ति) में उपयोग होने से अविरोधी स्थिति संभव है।

(क) अभिनवगुप्त ने रस पर ग्रहण की दृष्टि से ही नहीं, सर्जन प्रक्रिया की दृष्टि से भी विचार किया है। *'शोकः श्लोकत्वमागतः'*[७३] की व्याख्या करते हुए अभिनव ने रचनाप्रक्रिया पर भी दृष्टिपात किया है और क्रम बताया है - विभाविदचर्वणा - हृदयसंवाद-तन्मयीभवन-आस्वादगोचर लोकोत्तर करुणरस - तदुच्चलन - आवेशवशात् समुचित शब्दच्छंदोवृत्तादिनियंत्रितश्लोकात्मक परिणति। यहाँ सर्जनप्रक्रिया में स्पष्ट ही रसास्वाद की बात आयी है। 'लोचन' में ही नहीं, नाट्यशास्त्र की 'अभिनव

भारती' में भी ऐसा प्रसंग आया है - "*कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च*[७४] *काव्य पुरस्सरो नट व्यापारः। सैव च संवित् परमार्थतो रसः तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः।" कविर्हि सामाजिकतुल्य एव।*"

आनन्दवर्धन ने भी कहा है 'श्रृंगारी चेत् कविः' अर्थात् कवि रसिक होता है तभी काव्य में रसमय जगत् की सृष्टि होती है। भक्तवर सूरदास भी कहते हैं -

'नीरसकवि न कहै रसरीति।
रसिकन को लीला[७५] पर प्रीति।'

चिन्तकोंने 'कविगतरस' के पक्ष पर आपत्ति खडी की है और कहा है कि कवि तभी कवि है जब वह कवि-कर्म अर्थात् 'वर्णना' प्रवण होता है। रसानुभूति विश्रान्ति दशा है। अतः एक काल और एक देश में 'विश्रान्ति' तथा 'सर्जनात्मक क्रिया'- दोनों परस्पर विरुद्धों का सहावस्थान किस प्रकार संभव है? मेरा विचार यह है कि कवि में होता तो दोनों है- 'दर्शना' भी और 'वर्णना'[७६] भी। पहली 'पश्यन्ती' भूमि है- यहाँ स्रष्टा स्रक्ष्यमाण का आकलन करता है - ईक्षण करता है– निरायास अपरोक्षानुभूति करता है–मायूराण्डरस की भाँति सूक्ष्मतम सर्जनात्मक अनुभूति का-जहाँ पद और अर्थ का भेद स्फुट नहीं है। 'वर्णन' में आवेशवश स्फुट हो जाता है। अतः स्तर भेद से दोनों स्थितियों का होना संभव है।

(ख) ग्रहणपक्षीय चिन्तन – ग्रहणपक्ष से विचार करने पर तीन बिंदु विशेषरूप से उल्लेख्य है– सामग्री, प्रक्रिया और परिणति या निष्पत्ति। सामग्री नाट्य में द्विविध है–मूलसामग्री और नटादिसामग्री । श्रव्य काव्य में नटादि सामग्री का स्थान ललितोचित सन्निवेशचारु काव्यशब्द ले लेते हैं। मूलसामग्री में रामादि पात्र और उनके परिवेश लौकिक होते हैं - उन्हें विभावादि जैसी लोकोत्तर संज्ञा नहीं दी जा सकती। अभिनव उनका प्रख्यात और संभाव्य होना आवश्यक मानते हैं। लोकसामान्य स्वभाव का अतिक्रमण तो होना ही नहीं चाहिए। सामाजिक की चेतना असामान्य और असंभाव्य में विश्रान्त नहीं होती। नटादि सामग्री भी द्विविध है –एक तो रंग सज्जा और उपरंजक सामग्री और दूसरे नट और उनका अभिनय पहली रसयिता सामाजिक की चित्तवृत्ति को सांसारिक अर्जन-विसर्जन की चिंताओं से हटाकर ऊपर उठा ले जाती है और दूसरी विभावादि की निर्विशेषता सम्पन्न कराती है। साधारण्य का अनुकूल वातावरण बनाने में उपर्युक्त दोनों प्रकार की सामग्री काम देती है तथापि नटादि सामग्री के द्वारा मूल रामादिरूपता का अध्यवसान होता है।

इस सामग्री की रसात्मक निष्पत्ति जिस विशिष्ट प्रक्रिया से होती है - उसका नाम है - साधारणीकरण। इस बिंदु पर[७७] अभिनव की विशिष्टता यह है कि एक तो वह भावकत्व नामके अतिरिक्त व्यापार को अस्वीकार करते हैं और बताते हैं कि दोष-हान तथा गुणालंकार आदि के उपादान से शब्दार्थात्मक काव्य में सामग्री को निर्विशेष रूप में प्रतीत करा देने की व्यंजनात्मक क्षमता सक्रिय हो जाती है। साधारणीकृत सामग्री न तो 'विशेष' रूप से प्रतीत होती है और न ही 'सामान्य'[७८] रूप से अपितु न तो वह सावधारण देश-काल-व्यक्ति विशेष संबद्ध होकर प्रतीत होती है और न ही सावधारण असंबद्ध होकर ही, पर प्रतीत होती है। इस प्रक्रिया में सामग्री में वैयक्तिकता का शतांश विगलन नही होता- अन्यथा रचना अपनी पहचान खो देगी साथ ही कृति भेद से होने वाला प्रतीतिभेद भी अनुपपन्न हो जायगा। भट्टनायक की अपेक्षा इनका साधारण्य परिमित नहीं, वितत है।

तीसरा बिंदु है- निष्पति या परिणति का। रस और आनन्द पर्याय है। सर्ववादिसम्मत आनंदमयी काव्यानुभूति की व्याख्या अभिनव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आलोक में करते है। इस काव्यानुभूति के लिए सामग्री और रसयिता-दोनों में अर्हता होनी चाहिए। पहली के लिए साधारणीकरण आवश्यक है और दूसरे के लिए समुन्नतमनस्कता या सहृदयता। अर्हता के कारण ही यह प्रतीति *'वीतविघ्न' होती है और सामग्री के निर्विशेष होने से अन्यलौकिक प्रतीतियों से विलक्षण।

***टिप्पणी : रसास्वाद के सात विघ्न :**

लोकोत्तर 'भाव' के साधारण्य की भूमिका की आवश्यकता तो रसात्मक परिणति के लिए आवश्यक है ही- लौकिकस्तरीय विघ्नों का न होना भी आवश्यक है- तभी तो 'वीतविघ्नप्रतीति ग्राह्य' लोकोत्तर भाव से रस निष्पत्ति संभव है। ये सात विघ्न इस प्रकार है-

१. **संभावनाविरह :-** संभावना का वास्तविक अर्थ है कल्पना- वह विधायिका और ग्राहिका- दोनों प्रकार की हो सकती है। यदि निर्माता में रसोपयोगी विधायक कल्पना न हुई- वह अशक्त रहा- तो रसोपयोगी संभाव्य सामग्री का ग्रथन ही कठिन हो जायगा और ग्राहक में ग्राहिणी शक्ति का अभाव हुआ- तब भी रसनिष्पत्ति न हो सकेगी। (सामग्रीगत दोष)

२. **स्वपरगत देशकाल विशेषवेश :-** इस विघ्न का संबंध केवल रसिक या ग्राहक से है। कुछ गोपनेच्छ रसिक होते हैं- जो काव्य पढते समय इस बात पर सोचते रहते है कि कही कोई इस देश-काल में मुझे देख तो नहीं रहा है।

३. **निजसुखदुःखादिविवशीभावः-** कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ग्राहक का मनअपने निजी या वैयक्तिक सुख-दुःख से इतना ग्रस्त होता है कि नाट्य रस की ओर पूरा उन्मुख नहीं हो पाता

अभिनव रसानुभूति का मुख्य क्षेत्र नाट्य को ही मानते हैं--श्रव्यप्रबंध में न तो सामग्री की वह व्यवस्थित और सांगयोजना होती है और न ही समष्टि का व्यापक माहौल। शैवदर्शन में आनन्द का मूल है- संविद्विश्रान्ति। अभाव या अपूर्णताबोध से संविद् या चिति बहिर्मुख या अविश्रांत रहती है और स्वभावबोध या पूर्णता परामर्श से आत्मविश्रान्त होती है। स्वरूपविश्रान्त चित् या निर्वृत चित् एक ही है-यही आनन्द दशा है। इस दशा का अनुभव व्यवहार जगत्, काव्यजगत् और समाधि जगत्- सर्वत्र होता है-पर निमित्त और स्वरूपगत मात्रा में भेद रहता है। स्वरूप सर्वत्र एक ही है- पूर्णता परामर्श या आत्मपरामर्श। कहा गया है- *"स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभाव प्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द* [७९] *इत्युच्यते"*। लौकिक क्षेत्र में एक अभीष्ट की पूर्तिवश 'पूर्णता परामर्श' हुआ कि अगले क्षण अन्य की अभिलक्षणीयता उद्रिक्त हो जाती है और संविद् बहिर्मुख हो जाती है। इस प्रकार यह आनंद तो है पर पूर्ण नहीं है।

वैषयिक आनन्द की अपेक्षा काव्यानंद में कई स्थितियाँ भिन्न होती हैं। एक तो उक्तसामग्री के कारण सहृदय सामाजिक लोकोपयोगी अर्जन-विसर्जन की विक्षेपकर-स्थिति से अपनी चेतना को मुक्तकर ऊपर उठा ले जाता है। इसीलिए इसे वीतविघ्न प्रतीति कहा जाता है। परमानंद तो यह भी नहीं है जो समाधिगम्य है। उसका कारण यह है कि काव्यानुभूति के दो भाग हैं- एक प्रकाशमयी संविद् का और दूसरा चित्तवृत्तियों का। प्रकाशमार्ग वेद्यविश्रान्त रहता है- बहिर्मुख नहीं रहता किन्तु रहता है- उद्रिक्त चित्तवृत्तियों की अपेक्षा गौण। चित्तवृत्तिभाग में हृदयतत्त्व या विमर्श की प्रधानता रहती है। इसीलिए इस प्रतीति को सहृदयता भी कहा जाता है। इस प्रकार विषय संस्कारों का अनुवेध यहाँ भी रहता है- फलतः वह भी परमानन्द की कोटि तक नहीं पहुँचता। वस्तुतः आत्मपरामर्श द्वारा संविद् विश्रान्ति विभिन्न भूमिकाओं

---

४. **प्रतीत्युयाय वैकल्यः** रस प्रतीति के उपकरण ही यदि अधूरे हों- तो रस प्रतीति किस प्रकार संभव है?

५. **स्फुटत्वाभाव :** रस सामग्री की प्रत्यक्षायमाण स्फुट प्रतीति संभव है- यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह भी एक विघ्न है।

६. **अप्रधानताः** काव्य में कुछ चीजे अप्रधान होती हैं और कुछ प्रधान- आधिकारिक. यदि आधिकारिक की जगह प्रासंगिक को असंतुलित महत्त्व मिल गया-तो भी रसप्रतीति प्रतिहत हो जायगी।

७. **संशय योग :** कुछ निमित्त या प्रभाव इस प्रकार के होते है कि जो अनेक भावों से संबद्ध होते हैं ऐसी संशयास्पद सामग्री भी रसप्रतीति के अनुरूप ही होती।

में होती है- 'विषयों की भूमिका में भी, 'भावों की भूमिका में भी और 'निज चित्स्वभाव' की भूमिका में भी। इनमें से भावों की भूमिका में होने वाली संविद् विश्रान्ति ही काव्य का रस है। ये भाव साधारणीकृत होते है।

इस संदर्भ में अभिनवने एक महत्त्वपूर्ण बात और की है। उनका मत है कि प्रमाता की व्यक्तिगत रसानुभूति की अपेक्षा समूहगत रसानुभूति अधिक पूर्ण होती है और यह अवसर नाट्य में ही आता है। "किसी भी अभिनय, संगीतगोष्ठी, मल्लयुद्ध, धार्मिक उत्सव आदि में सहृदय समाज की संख्या जितनी प्रचुर होती है- आनन्द की धारा भी उतनी ही तीव्र होती जाती है। जब सामाजिकों का एक विशाल समूह एकाग्र होकर अभिनयादि में लीन हो जाता है तब उस दृश्य-नृत्य-गीत आदि को अमृत का सागर समझता है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाताओं का तादात्म्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन सामाजिक अवसरों पर देह-भेद से संकुचित होती हुई सर्वात्मिका संविद् विकसित होती हैं और परस्पर संघट्ट प्राप्त करती हुई एक दूसरे में प्रतिबिंबित होती है और जिस प्रकार अनेकदर्पणों में प्रतिफलित सूर्यरश्मियों का प्रकाश और भी अधिक दीप्त हो उठता है उसी प्रकार आत्मतत्त्व की रश्मियाँ विभिन्न चेतना दर्पणों में प्रतिफलित होकर और भी अधिक प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त करती हैं। अतः प्रस्तुत दृश्य का एक ही नहीं, अनेक प्रमातृ चेतनाओं के साथ एक साथ तन्मयी भाव हो जाता है। इस प्रकार परमात्मचैतन्य को सामूहिक अवसरों पर पूर्णतः विकसित होकर अधिकाधिक प्रकाशित होने का अवसर मिलता है। इसका मूल कारण आत्मचैतन्य की अद्वैतता[८०] है।" संक्षेप में अभिनव की यही विशिष्ट मान्यताएँ हैं।

३.४ स्पन्दवाद के आलोक में वक्रोक्ति

दर्शन की भूमि पर कुन्तक स्पंदवादी है। स्पन्दवाद (द्वयतागर्भ) अद्वयवाद है। 'वक्रोक्तिजीवित के मंगलाचरण में कहा है कि उस शिव को नमस्कार है जो विश्व चित्र का निर्माण करने में केवल परिस्पंदस्वभाव आत्मशक्ति मात्र का सहारा लेता है

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्र कर्मविधायिनम्।
शिवं शक्तिपरिस्पंदमात्रोपकरणं नुमः[८१]॥

इस 'शक्ति' का स्वभाव या स्वरूप- संकोच प्रसारात्मक है। 'तंत्रालोक' में अभिनवगुप्त ने कहा है कि जिस प्रकार वड़वा विसर्गकाल में वराङ्ग का संकोचप्रसार

करती हुई आत्मलाभ करती है उसी प्रकार सृष्टिकाल में स्पन्दस्वभाव यह शक्ति भी आनन्दमयी रहती है।

'स्पन्द' शब्द का शाब्दिक अर्थ है- किञचित् चलन। - स्पन्दन "(स्पदि किञ्चिच्चलते)" यह एक ज्योतिर्मय बिंदु है। कम्पनात्मक होते हुए भी इस तत्त्व को उस 'क्रिया' शब्द से बोधित नहीं किया जा सकता जो काल में घटित होती है। स्पन्द सक्रिय भी है निष्क्रिय भी है। सक्रिय इसलिए कि उसमें कम्पन के कारण देश प्रच्युति होती है, पर इस देशप्रच्युति की संतति नहीं चलती- फलतः उसे निष्क्रिय भी कहा जाता है। यही चित्स्वरूप शिव की स्वभावभूता शक्ति उससे निकलकर फिर उसीमें समा जाती है- विश्रान्त होती रहती है। यही आवर्तात्मक कम्पन ही स्पन्द है जो निष्क्रिय और सक्रिय के मध्य है।

रामकण्ठ ने इस स्पंद की चर्चा करते हुए कहा है- "स्पन्दशब्दश्चायं स्वस्वभावपरार्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यव्यतिरेचनकारणभूतस्य तावन्मात्रसंरभात्मनः शक्त्यपराभिधानस्य पारमेश्वरस्य धर्मस्य किञ्चिच्चलनात् 'स्पन्द' इत्यार्थानुगमात् वाच कत्वेन व्यपदिश्यते"[८२] (स्पन्दकारिका निवृत्ति)

यह स्पन्द दो प्रकार का है- सामान्य स्पन्द और विशेषस्पन्द। 'सामान्यस्पन्द' का स्वरूप इस प्रकार है- 'एष उपादेयतमः परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य 'अयमहमस्मि' –अतः सर्वं प्रभवति, अत्रैव च प्रविलीयते– इति प्रत्यवमर्शात्मको निजोधर्मः सामान्यस्पन्दः[८३]।" (वही)

सामान्यस्पंद के सहारे ही अनिच्छात्मक इच्छावश विशेषस्पंद बनते है। 'विशेषस्पन्द' का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है-

"विशेषस्पन्दा अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्माभिमानमुद्भावयन्तः परस्परभिन्नमामीय प्रमातृ विषया सुखिवतोऽ हंदुःखितोऽहमित्यादयो गुणमया प्रत्ययप्रवाहाः संसारहेतवः[८४] (वही) ये विशेषस्पन्द स्वरूप के आच्छादक है।

'वक्रोक्ति जीवित' में इसकी पग-पग पर चर्चा है। काव्य में जिस अर्थ का विधान हो- इस पर उसका कहना है- "अर्थः सहृदयाह्लादस्वस्पन्द सुन्दरः[८५]"-इसकी व्याख्या में वे स्पष्ट कहते है- "काव्ये ये सहृदयाः काव्यार्थविदः तेषामाह्लादमानन्दं करोति यः तेन स्पन्देन आत्मीयेन सुन्दरः सुकुमारः"[८६] (वक्रोक्तिजीवित)। अर्थात् काव्य में जिस अर्थ का विधान हो, वह अपने स्वभाव से सुन्दर प्रतीत होकर सहृदयों को आहलाद्मग्न कर सके। यह स्पन्द वस्तु का स्वभाव है- उसके बिना वह कहा ही नहीं जा सकता।

इसीलिए कुन्तक ने 'वक्रता' का मर्म स्पष्ट करते हुए कहा - "आञ्जसेन रूपेण स्वभावस्य निरूपणमेव वक्रतायाः परमरहस्यम्[८७]"-

लोग समझते है कि वक्रोक्ति मात्र उक्तिवैचित्र्य है- नहीं, उसका मर्म स्वभाव का निरूपण ही है। 'स्वभाव' की व्युत्पत्ति है भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ - इति भावः - स्वस्यात्मनः भावः स्वभावः - अर्थात् जिससे कथन और ज्ञान-दोनों होते हैं- वह भाव है - और आत्मा का यह भाव - स्वभाव है। मतलब जिसके द्वारा अपने स्वरूप का कथन और ज्ञान हो - वह 'स्वभाव' है। फलतः यही 'स्वभाव' जिस किसी पदार्थ की प्रख्या अर्थात् ज्ञान और उपाख्या अर्थात् कथनरूपता लाने का कारण होता है - उससे रहित वस्तु राशभृंग की भाँति असत्कल्प है।

संदर्भः

१. नाट्यशास्त्र, पृ. ६२० काशी हिंदू विश्वविद्यालय (१९७१)
२. वही, पृ. ६८०
३. वही, पृ. ७९४
४. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ. २५८ प्रो. ग. त्र्यं. देशपांडे
५. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ. १५८ सन् १९६२ दिल्ली
६. नाट्यशास्त्र -अभिनव भारती, पृ. ६४३
७. वही, पृ. ६४७
८. वही, पृ. ६४३
९. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. १४८
१०. वही, पृ. १४९
११. नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती, पृ. ६४३-४५
१२. ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्भा सं. १९९७, पृ. १८३
१३. रसगंगाधर, पृ. २९ निर्णयसागर, बम्बई, १९४७ ई.
१४. काव्यप्रदीप, पृ. ६३ निर्णय सागर, द्वितीयावृत्ति
१५. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. १५०
१६. ध्वन्यालोक लोचन चौखम्भा, १९४०, पृ. १८७
१७. पातञ्जलदर्शन - कैवल्यपाद, "तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् वाचस्पति प्रेस कलकत्ता १९४० पृ. १८५
१८. नाट्यशास्त्र अभिनव भारती, पृ. ६५५
१९. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् - "मनुष्य देहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः", पृ. ७६ मोतीलाल बनारसीदास १९७३, काशी

२०. अर्थसंग्रह - निर्णयसागर, १९५०, पृ. ९ से २५ तक
२१. रसगंगाधर, पण्डितराज जगन्नाथ, पृ. ५ निर्णयसागर १९४७
२२. नाट्यशास्त्र - अभिनव भारती, पृ. ६५१
२३. भारतीय साहित्यशास्त्र - से उद्धृत, पृ. २९९
२४. वही, पृ. २९९ - पॉपुलर बुक डिपो, बम्बई, १९६०
२५. नाट्यशास्त्र - अभिनव भारती, पृ. ६५३
२६. काव्य प्रदीप, पृ. ६८
२७. काव्यप्रकाश, पृ. ९२ पुण्यपत्तनम्
२८. साहित्यदर्पण, पृ. ७४ कलकत्ता
२९. साहित्यदर्पण की टीका - (हरिदास सिद्धान्त वागीश), पृ. ७४
३०. साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, पृ. १५५-१६५ तक इण्डियनप्रेस, इलाहाबाद, १९३९
३१. 'मेघदूत' - की भूमिका - पं. केशव प्रसाद मिश्र
३२. पातंजल योगदर्शन - तासामनादित्वम्, अशिषो नित्यत्वात्। चतुर्थपाद पृ. १८५
३३. साहित्यालोचन, पृ. २८८-९
३४. 'मेघदूत' की भूमिका - साहित्यालोचन, पृ. २८०
३५. वही
३६. ध्वन्यालोक - लोचन, पृ. ८६
३७. व्यक्तिविवेक - महिमभट्ट पृ. ७४ चौखम्भा, १९३६
३८. रसगंगाधर, पृ. २७
३९. नया साहित्यः नये प्रश्न - पं. नंददुलारे वाजयेयी, पृ. १२१-२ विद्यामंदिर-काशी १९५९
४०. रससिद्धान्त - डॉ. नगेन्द्र - 'साधरणीकरण'
४१. विचारसौंदर्य - श्री वामन मल्हार जोशी, पृ. २६
४२. वही, पृ. ३०
४३. 'लोचन' - में उद्धृत भट्टतौत का मत, पृ. १२
४४. काव्यालोचन - दत्तात्रेय केशव केतकर, पृ. १७९-८१
४५. सौंदर्य आणि आनन्दवोद्य - रा. श्री. जोग पृ. १७५
४६. साहित्यसिद्धान्त - डॉ. राम अवध द्विवेदी, पृ. ४२ रा. मा. परिषद् पटना, बिहार, १९६३
४७. वही, पृ. ४३
४८. वही, पृ. ६८
४९. वही, पृ. ४२
५०. भरतनाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, पृ. १४३
इओन शीर्षक संवाद १३६
प्लेटो - सेलेक्शन, सं. रेफेल डेम्स पृ. २३९

५१. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ५५१ चतुर्थ उद्योत
५२. नाट्यशास्त्र - अभिनव भारती, प्रथम अध्याय, पृ. २१
५३. ध्वन्यालोकलोचन, प्रथम उद्योत, पृ. ८५
५४. ध्वन्यालोकलोचन, प्र. उ. पृ. १६४
५५. अर्ल ऑव लिस्टोबेल, मार्डन एस्थेटिक्सः एन हिस्टारिक इण्ट्रोडक्शन पहला संस्करण (१९६७) पृ. ५२
तथा - मेल्विन रेडर, मार्डर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स, पृ. ३७१
५६. वही
५७ एस्थेटिक्स, एडवर्ड वुलो, पृ. ७२
५८. मोल्विन रेडर, मॉडर्न एस्थेटिक्स - पृ. ४११-१३
५९. What is Art - टॉलस्टाय, 'व्यञ्जना और नवीन कविता' - राममूर्ति त्रिपाठी, सभा, काशी, १९५७- देखें पृ. १४०-१४१
६०. साहित्य सिद्धान्त - डॉ. राम अवध द्विवेदी, पटना, पृ. १७९, -१९६३ **(Principles of library Criticism- J. A. Rechards.)**
भट्टनायक (स्वं आभिनवगुप्त) सम्मत इस सूत्र की व्याख्या का संदर्भ
६१. भरतनाट्यशास्त्र, पृ. ६२०
६२. ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृ. ५२९ च. उ.
६३. भरतनाट्यशास्त्र अभिनवभारती, पृ. ६४७ (उद्‌धृत)
६४. काव्यप्रकारश, झालकीकरण वामन की टीका, पृ. १३ च. उ.
६५. रसगंगधार - पण्डितराज जगन्नाथ, पृ. २६-२७
६६. काव्य प्रकाश - चतुर्थ उल्लास - पृ. ९०
६७. काव्य प्रदीप - पृ. ६६
६८. काव्य प्रदीप - प्रभा - पृ. ६६
६९. ध्वन्यालोक लोचन - पृ. १८३
७०. ध्वन्यालोक लोचन की 'बालप्रिया' टीका - पृ. १८३
७१. नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती, पृ. ६४५
७२. काव्य प्रदीप - प्रभा, पृ. ६६
७३. नाट्यशास्त्र - अभिनव भारती, पृ. ३५
७४. Comparative Aesthelies. Vol. II. œw. 60
७५. रसगंगाधर का शास्त्रीय भट्टनायक, पृ. १६९
७६. रसगंगाधर का शास्त्रीय भट्टनायक, प्रकरण १४०-१७०
७७. रस विमर्श - राममूर्ति त्रिपाठी, पृ. ३२-३६
७८. ध्वन्यालोक लोचन, प्रथम उद्योत, पृ. ८५, ८६
७९. हिंदी अभिनव भारती, पृ. ५१५

८०. 'सूरसागर' से 'सूर विमर्श' में उद्धृत, पृ. १५१
८१. काव्यशास्त्र के नए क्षितिज- पृ. २१७
८२. ध्वन्यालोक लोचन, पृ. १८९
८३. हिंदी अभिनवभारती, पृ. ४१७ 'लोचन' १८८, ८९
८४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमार्शिनी - भाग २ पृ. १७७-१७९
८५. हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्पापि प्रकाशभागस्प वेद्यविश्रान्तास्यानादरणात् सहृदयता उच्यते-वही
८६. रसगंगाधरका शास्त्रीय अध्ययन पृ. १७५
८७. वक्रोक्ति जीवित पृ. ५३.

□□

परिशिष्ट - १

शैव और वैष्णव आगमों के आलोक में रस तत्त्व

रस की निष्पत्ति न तो द्वैत मत में हो सकती है और न तो अद्वैत मत में- मम्मट एवं अभिनव गुप्त आदिने जिस एक प्रकिया का उल्लेख किया है- वह एक मात्र भिन्न-दर्शन के अनुसार ही बन सकता है।

सांख्य दर्शन में यह कहा गया है कि प्रकृति नटी की भांति अपनी सारी क्रीडा करती है। यद्यपि यह क्रीडा प्रकृति के अपने गुणों (सूत्र) की है- पुरुष से उसका कोई संबंध नहीं है, फिर भी पुरुष उस क्रीडा को स्वकृत मान लेता है, अपना मान लेने के फलस्वरूप उसे सुख दुःख का भोग करना पडता है, सो भोगकाल में बद्धात्मा पुरुष स्वयं नर्तक-स्थानीय है- वह 'दृश्य' ही है- उसमें साक्षी-भाव का उन्मेष नहीं हुआ है सहृदय नहीं बन सका है। जिस समय विवेक ख्याति होने पर वह द्रष्टा हो जायगा- उस समय 'प्रकृति' नटी को वह पहचान लेगा और प्रकृति भी लज्ञित होकर रङ्गस्थलसे निवृत्त हो जायगी और निवृत्त हो जाने पर 'दृश्य' भी निवृत्त हो जायगा।

अभिप्राय यह कि बद्धावस्था में पुरुष में दष्ट्त्व नहीं है- वह होती हुई क्रीड़ा को देख नहीं रहा है- स्वंय काल प्रवाह में पड़ा हुआ व्यक्ति काल की इयत्ता क्या समझ सकता है। हाँ, वह काल-प्रवाह से ऊपर बैठा हुआ व्यक्ति अवश्य सब कुछ देखता है, देख सकता है। वद्धावस्था में 'प्रकृति सूत्रधार' की क्रीडा का विषय बना हुआ बद्धात्मा पुरुष में 'दृश्य' को देखने की क्षमता नहीं और जब विवेक ख्याति के पश्चात् यह क्षमता आती है- तब 'दृश्य' नहीं और जब द्रष्टा तथा दृश्य दोनों हों तो ही 'रस' का प्रसङ्ग आयगा। पर इस द्वैतवादी दर्शन को सह-स्थिति की कल्पना ही नहीं हो सकती।

रहा, अद्वैतवादी दर्शन .– सो यहाँ भी दो का सद्भाव एक काल में संभव नहीं।

भरत ने इस रहस्य को सुलझाते हुए एक 'सहृदय' की कल्पना की है, जो 'शुद्ध वासना' मय हो। यहाँ अशुद्ध वासना' से भी काम नहीं चलेगा और 'वासना' न होने से भी काम नहीं चलेगा। यही 'शुद्धवासना' भाव है।'भाव' 'चिति' में होने वाले प्रथम- क्षोभ से उत्पन्न विक्रिया है। उदाहरण के लिए - शांतसमुद्र के प्रथम क्षोभ से प्रभूत तरंग, फेन, बुद्‌बुद् आदि लिए जा सकते हैं। यह 'भाव' भी 'स्थिर'एवं 'संचारी' दो प्रकार का होता है। अस्तु इसकी चर्चा आगे की जायगी। कालिदासने

ऐसे भाव के लिए कहा है- '*भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि*' - यही भावों का स्थिरीकरण समझने की चीज है।

अस्तु। भरत से अभिनव गुप्त तक इसी रसप्रक्रिया के बिठाने का प्रयास हो रहा था- जो शैवागम के हिसाब से ठीक-ठीक बैठ सका। बाद में वैष्णवों ने रस की एक अलग प्रक्रिया ही निकाली। भगवान् की आह्लादिनी शक्ति को यहाँ 'रस' कहा है।

यहाँ स्थायी भाव आठ ही है– अष्ट दल कमल के एक-एक दल को लेकर। और सबके समष्टिरूप एक नवम की कल्पना बाद में हुई। यही आठों-भाव जब खंड-खंड है- तब भाव है और समष्टिरूप हो जाने से वैष्णवों की 'महाभाव' दशा आती है- जो रसमयी है।

अद्वैती के ब्रह्म से पृथक् करने के लिए ही इसे ब्रह्मांतर नहीं, प्रत्युत ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया।

हाँ, तो 'द्रष्टा' होने पर 'दृश्य' नहीं ओर 'दृश्य' रहने पर द्रष्टा नहीं, अतः ऐसे 'द्रष्टा' की कल्पना की गई जो 'सहृदय' हृदयवान्- शुद्ध वासना मय हो और द्रष्टा भी। दर्शन काल में यह सहृदय द्रष्टा नतर्क से अपने को अभिन्न भी समझता है और भिन्न भी। इसी भेदाभेद की स्थिति में रस-निष्पत्ति संभव है। शांकर मत में पर-प्रमाता-पूर्णाहंतामय- है ही नहीं, और बिना इसके रस-निष्पत्ति हो नहीं सकती।

इन सभी रसों के मूल में भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न रसोंको मानते हैं। एक दल 'शृंगार' को ही मानता है और तर्क देता है कि सृष्टि ही 'काम' (इच्छा) मूलक है तथा परमात्मा ने रमण के ही लिए अपने को द्विधा विभक्त किया और आत्म-क्रीड बना। दूसरे लोग 'करुण' को ही सबरसों का मूल मानते है और कहते है कि सारा संसार ही दुःख मय है- अतः करुण का ही साम्राज्य है। अन्य दल का वक्तव्य है कि 'वात्सल्य' ही मूलरस है, क्योंकि जगदम्बा ने अपने शिशु के रूप में सारे विश्व की सृष्टि कर रखी है। चौथे दल का विचार है कि 'शान्त' अवस्था से ही क्षोभवश सृष्टि होती है और फिर 'शांत' में ही विलीन होती है- इससे 'शांत' को ही सबका मूल मानना चाहिए। वैष्णवों का विचार है कि उज्ज्वल रस ही रस है और सब अनित्य होने के कारण रसाभास। कुछ लोग (नारायणप्रभृति) (अद्भुत या चमत्कारवादी हैं। इस प्रकार कई एक मत है। साहित्य शास्त्र में 'भक्ति' को भाव कोटि का ही रखा है- पर अच्युतराय ने 'साहित्यसार' में 'रस' का भी दर्जा दे दिया है।

दार्शनिक दृष्टि से कुछ एक मत ऐसे है, जो ईश्वर मानते ही नहीं और कुछ ऐसे है, जो आत्मस्वरूप 'आनन्द' को नहीं मानते। न्याय, वैशेषिक एवं निरीश्वर सांख्य की यही स्थिति है। ये लोग आनंद को आत्मगत नही मानते। यहाँ आनन्द नाम की वस्तु 'प्राकृत' है - अप्राकृत नहीं। न्याय, वैशेषिक का आत्म धर्म 'सुख' है - पर मुक्तिकाल में उसकी स्थिति नहीं रहती। सांख्य में सत्त्वगुण का परिणाम है- आनंद। मुक्तिकाल में यहाँ भी आनंदमयता की स्थिति नहीं है। यहाँ का सत्त्व 'शुद्धसत्त्व' नहीं है। यहाँ का सत्त्व इतर दो गुणों से किसी न किसी अंशतक सर्वदा अनुविद्ध रहता है। यहाँ की गुरु भी संसारी जीव ही हैं। ये गुरु कभी समल रहे अतः ये जिसे शिष्य करेंगे, उसके मल का पूर्णतः शोध नहीं कर सकते।

योग दर्शन में प्राकृत सत्त्व से ऊपर एक शुद्ध-सत्त्व है जो ईश्वर में है। यहाँ का गुरु क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से अमरामृष्ट पुरुष विशेष है। पुरुष सामान्य तो सांख्य ने बता ही दिया है, 'पुरुष-विशेष' की बात यहाँ कही जा रही है। यह पुरुष विशेष जब गुरु रूप में जीव का कल्याण करता है- तो दीक्षा द्वारा जीव के मल का ऐसा शोधन कर देता है- कि उसकी पूरी सत्त्वशुद्धि हो जाती है। अब, इसी शुद्धसत्त्वात्मक मन से जो उपासना- (समीप गमन- योग) होता है, उससे परमात्मा का सायुज्य होता है। कहा भी है -- *"योगः संयोग इत्याहुः जीवात्मपरमात्मनोः"।*

यही योग है। केवल विवेकख्याति अथवा 'असंप्रज्ञात' में उसका भी निरोध पूर्ण योग नहीं है- योग उपर्युक्तस्वरूप है। विवेकख्याति से भेदज्ञान होता है और फिर उसमें भी वितृष्णा होती है- यही पर वैराग्य है। फिर असंप्रज्ञात समाधि में ('भवप्रत्यय' नही) 'उपाय-प्रत्यय' द्वारा जिस प्रज्ञाग्नि की उपलब्धि होती है- उससे समस्त कर्मेन्घन का दाह हो जाता है और चिज्ज्योति ब्रह्माण्ड में जागरण पूर्वक पहुँच जाती है। तब पुरुष द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है और कैवल्य की स्थिति होती है। अस्तु। तो यहाँ परमेश्वर का 'महासत्त्व' आनन्द मय होता है। यही आनन्द परा विश्रान्ति है।

इस महासत्त्व ज्योति का पता पाञ्चरात्र उपासकों को भी था। इसके द्वारा कोई इच्छा, कोई क्रिया और कोई ज्ञान वश परमात्मा से योग करता था। इस वैष्णव तंत्र की कई शाखाएँ थीं- वैखानस एवं पाञ्चरात्र या भागवत। पाञ्चरात्र या भागवत इस शुद्धसत्त्वमय मन से परमात्मा की भक्ति करते थे। चैतन्य संप्रदाय में भी कुंजलीला, निकुञ्जलीला- इसी महासत्त्व के कारण भक्ति के कारण दो स्तर हैं-प्रवीह कुञ्जलीला

(प्रवाह) के बाद (स्थिति) निकुञ्जलीला में प्रवेश होता है। इन वैष्णवों में परमात्मा की तीन शक्तियाँ मानी हैं–संधिनी, संवित् एवं ह्लादिनी। ह्लादिनी नामक स्वरूपभूता शक्ति ही आनन्दमयी है- इसी का एक रूप में परिणाम होता है– यही अप्राकृत रस है।

वेदान्तियों के यहाँ 'आनन्द' स्वरूप भूत ही है- आत्मा का। रसावरण होने पर उसकी प्रतीति नहीं होती और निरावरण होने पर होती है।

त्रिक दर्शन में भी आनन्दशक्ति का स्फुटन 'विमर्श' रूपा परमशिव की स्वभाव भूता शक्ति में है- वही ह्लादैकमय है। उसी के विस्फार से आनंदानुभूति होती है।

'भाव' के संबध में यह समझना चाहिए कि *"निर्विकारत्मके चित्ते भावः प्रथम विक्रिया"* - दशरूपक, चित्त की प्रथम विक्रिया भाव है। 'चित्त' में अनुभूतियाँ कई प्रकार की हैं - पर कुछ उपेक्षात्मक उदासीन है और कुछ ऐसी है- जो सुखकर या दुःखकर होती है। ये ही चित्त को भावन करती है- अतः इन्हे भाव करते है।

चित्त भी दो प्रकार का है- कुछ लोगों का चित्त ऐसा होता है-जिसपर भावों का प्रभाव वैसा ही अस्थायी पडता है- जैसे दर्पण पर प्रतिबिम्ब। विम्ब के हटते ही वह भी हट जाता है। एक चित्त वह होता है- जो फोटो की रील पर पडता है- जहाँ का प्रतिबिम्ब Static होता है, Dynamic नहीं। तो, जिनलोगों का चित्त ग्रहणशील होता है, वे भावुक कहे जाते हैं और उन्हीं के लिए भक्ति का मार्ग है। पहले प्रकार के चित्तवालों के लिए ज्ञानमार्ग है, पर भक्ति के लिए विषय-राग को मारना पडता है। इसीलिए निष्काम कर्म से, सत्वशुद्धि की जाती है। शुद्ध सत्त्वात्मक मन से विषय-राग हट जाता है और ईश्वर के साथ आत्मा का, तद्द्वारा भोग हो जाता है।

यह भाव भी संचरण शील एवं स्थिर होता है। किसी भी संचारी भाव को स्थिर करने की प्रक्रिया है- यह स्थिरीकरण नाभिस्थान में होता है। यह तांत्रिक प्रक्रिया है- जिसकी चलन अब लुप्त प्राय सी है।

अद्वैतियों के मत से 'चित्' का स्वरूप भिन्न है और आगमिको के यहाँ भिन्न। अद्वैतियों का चित् यह प्रकाश है- जिसके पड़ने पर अचित् समाप्त हो जाता है और आगमिकों का चित् वह है जिसमें 'प्रकाश' के उद्भव और वैचित्र्य की स्थिति में विरोध नहीं है। वहां एक भी है और वही अनेक रूप में भी है। उदाहरण के लिए सिनेमा की लाइट ली जा सकती है- जिसके कारण अनेक चित्र दृष्टिगोचर होते रहते है।

वेदान्त में 'चित्' के साथ अनेक की स्थिति देखी नहीं गई और आगम में अनेक के साथ एककी स्थिति देखी गई है और- सब मिलकर भी एक ही है। इस प्रकार अभिनवगुप्त की 'रस' धारणा अपने दर्शन के अनुसार है, जो वेदान्तियों की दृष्टि से ठीक नहीं बैठती। दूसरे यह भी है कि रस ब्रह्मानंद सविध है। लौकिक रस की दृष्टि से प्रतिच्छाया संभव भी है आनंदमय ब्रह्म की वृत्तियोंपर, यह अलौकिक काव्यीय दृष्टि से यह संभव नहीं।

□□

चौथा - अध्याय

उपसंहार

काव्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के कारण मुझे काफी विलंब से यह अहसास हुआ कि साहित्यचिन्तन को परिनिष्ठित दर्शन का स्तर कश्मीर के आगमनिष्णात आचार्यो ने दिया। उत्तरोत्तर यह धारणादृढ होती गई कि शैवागम के गहन मंथन किए बिना इन आचार्यो के अवदान का यथार्थ मूल्यांकन नहीं हो सकता और न ही उनकी पारिभाषिक शब्दावली से मण्डित उसकी मान्यताओं और स्थापनाओं को ठीक से हृदयगंम भी किया जा सकता, चाहे नाट्यशास्त्र का क्षेत्र हो, या श्रव्य काव्यशास्त्र का। महामाहेश्वर अभिनवगुप्त पादाचार्य की विचारसरणि और भाषापद्धति से परिचित हुए बिना इनकी व्यापकता और गहराई का अवगाहन असंभव है। नाट्य के क्षेत्र में 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' दी और ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' को देखने के लिए 'लोचन' दिया। 'अभिनव भारती' और 'लोचन' विहीन अध्येता दोनों शास्त्रीय धाराओं का अधिकारी विद्वान् नहीं हो सकता। इसीलिए यह सोचा गया कि जहाँ तक काव्यशास्त्र का संबंध है- ध्वनिसिद्धान्त एक सर्वसमावेशी सिद्धान्त है और उसका गूढ मर्म अभिनव ही उद्घाटित कर सके हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं की उनकी दृष्टि शैवी दृष्टि है। अतः काव्यशास्त्र को समझने के लिए शैवी दृष्टि का परिज्ञान नितराम् आवश्यक है।

प्रस्तुत प्रयास, इसीलिए पहले अपने आपको 'आगम' पर केन्द्रित करता है। 'शैवागम' के उन विशिष्ट बिंदुओं को विवेचित किया गया है जिनसे काव्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण पक्षों का विशदीकरण और उपबृंहण हो- ताकि अध्येता उनके आलोक में मर्म को पकड सके। प्रसंगतः वैष्णवागम के वैखानस और पाञ्चरात्र प्रस्थानों का भी परिचय देकर आगम और निगम के समन्वय के विवादास्पद बिंदु को भी सुलझाने का प्रयास हुआ है।

इस स्वल्प-काय ग्रंथ में कुल तीन अध्याय बन सके है। प्रथम आगम परक है और द्वितीय काव्यशास्त्र के काव्यत्मवादेतर पक्षों पर प्रकाश डालता है। इसमें (काव्य के लिए या) काव्यशास्त्र के लिए प्रस्तावित संज्ञाओं की साधार प्रस्तुति के साथ यह सवाल भी उठाया गया है कि काव्य शास्त्र का जन्म नाट्यशास्त्र की कुक्षि से हुआ है या स्वतंत्र - इस पर मेरी मान्यता यही रही है कि उसका विकास स्वतंत्र हुआ है। सम्प्रति आधुनिक आलोचकम्मन्य पण्डित बिना इस विराट्वाङ्मय का मंथन किए वर्तमान रचना संसार के संदर्भ में अप्रासंगिक और अनुपादेय घोषित कर रहे हैं- संक्षेप में उनका भी समुचित समाधान दे दिया गया है। तदनन्तर काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु और प्रभेद के उन प्रसंगों को रेखांकित किया गया हैं जिनको समझने में आगमबोध की अनिवार्यता है।

तृतीय अध्याय अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि उसमें भारतीय काव्यात्मवाद पर विचार कर आत्मवादसे संबद्ध पक्ष-विपक्ष पूर्वक पाँच पक्ष अन्ततः स्थापित किए गए हैं- अलंकारमत, रीतिमत, ध्वनिसिद्धान्त, रसमत तथा वक्रोक्ति मत। प्रथम दो मत ध्वनि सिद्धान्त से पूर्ववर्ती होने के कारण छोड़ दिए गए हैं। ध्वनिसिद्धान्त का हार्द है- रसतत्त्व। अतः इस 'रस' तत्त्वपर केवल भट्टनायक और अभिनवगुप्त की रसनिष्पत्ति से संबद्ध विवेचन प्रस्तुत हुआ है- कारण, उन पर शैवागम का सर्वाधिक प्रभाव है और अन्यशास्त्रों के अतिरिक्त इस दर्शन के आलोक में ही उनके द्वाराप्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावालियाँ अपना स्वारस्य समर्पित कर सकती है।

उक्त आचार्यो की रसनिष्पत्ति से संबद्ध मान्यता का तो उपस्थापन हुआ ही है- सर्वाधिक सविस्तर विचार 'साधारणीकरण' पर किया गया है। इसमें भी भट्टनायक और अभिनवगुप्त पादाचार्य का पक्ष तो विस्तार के साथ रखा ही गया है साथ ही हिंदी, मराठी एवं पाश्चात्यचिन्तकों के मत भी प्रस्तुत किए गए है- ताकि आलोच्यविषय का स्वरूप और भी- नितान्त स्फुट हो सके। निश्चित रूप से मेरा झुकाव अभिनवगुप्त की मान्यताओं पर ही है।

ध्वनि सिद्धान्त के अतिरिक्त निर्गाणपक्ष से विचार करते हुए जिस वक्रोक्ति सिद्धान्त की उद्भावना कश्मीरी पण्डित कुन्तक ने की है- उसपर भी वहाँ के 'स्पन्द' दर्शन का गहरा प्रभाव है। इसलिए संक्षिप्त ही सही- पर उस दर्शन का सारगर्भ रूप

देकर यह स्पष्ट किया गया कि 'वक्रता' का हार्द विना इस आगमिक दर्शन के सुस्पष्ट हो ही नहीं सकता।

निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत प्रयास काव्यशास्त्र के विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण बिंदुओं और पक्षों को (बोधगम्य बनाकर) आगम के आलोक में उन्हें देखने-दिखाने का अनुरोध करता है।

□□

Some Important Recent Publications of the Centre

1.	New Horizons of Research in Indology	V. N. Jha (Editor)
2.	Proceedings of the National Seminar on Environmental Awareness Reflected in Sanskrit Literature	V. N. Jha (Editor)
3.	Proceedings of the National Seminar on 'Living Customs and their Ancient Indian Sources'	V. N. Jha (Editor)
4.	Proceedings of the National Seminar on The Art of Dictionary Making in Ancient India .	V. N. Jha (Editor)
5.	Bibliography of Nyāya - Yaiśeṣika	K. N. Hota A. R. Mishra
6.	Bibliography of Pāli & Buddhism	S. C. Dash
7.	Bibliography of Aupādhika Bhedābheda	N. G. Kamat
8.	Bibliography of Svābhāvika Bhedābheda	N. G. Kamat
9.	Bibliography of Acintya Bhedābheda	N. G. Kamat
10.	Bibliography of Sāṁkhya	A. M. Pujari
11.	Bibliography of Technical Science	K. N. Hota
12.	Bibliography of Yoga	Manik Thakar
13.	Bibliography of Pāṇini	Bhagyalata Pataskar & Ganesh Panda
14.	Metaphors in Vedic Literature	V. N. Jha (Editor)
15.	प्राचीनन्याय-परम्परा	V. N. Jha (Editor)
16.	Ancient Indian Theories of the Earth	S.R. Murthy
17.	The Social and Familial Relationships from the Ṛgveda to the Vedāṅgas	Uma Chakravarty
18.	Śrauta Lexicon (Mono-Lingual Sanskrit Dictionary of Vedic Ritual Terms)	Chi. Shrirama Sarma